बेरोज़गारी का महासंकट

कारण और उपाय

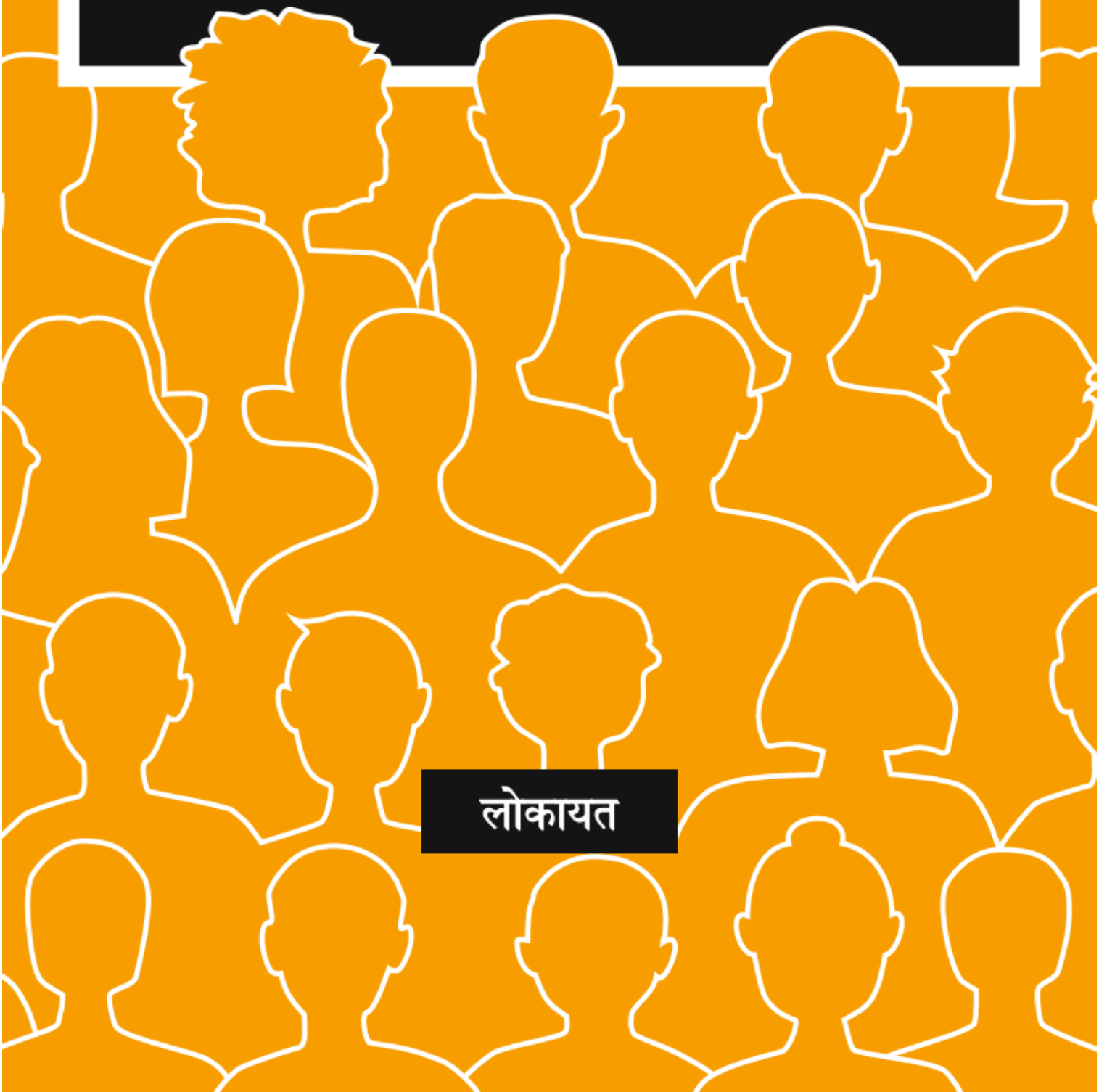

लोकायत

बेरोज़गारी का संकट

- **अनुवाद**

  सुशिल जोशी (उज्जैन)

- **प्रकाशक**

  लोकायत सोशल ॲक्शन ट्रस्ट

  अलका जोशी, सी - 2, मंत्री इस्टेट, सॅलिसबरी पार्क, पुणे – 411 037

  (यह पुस्तिका लोकायत के लिए लोकायत सोशल एक्शन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित की गई है।)

  जनता साप्ताहिक, मुंबई

  डी/15, गणेश प्रसाद, नौशीर भरुचा मार्ग,

  ग्रांट रोड (पश्चिम), मुंबई – 400 007

- **मुद्रक**

  आर.एस. प्रिंटर्स, 455, शनिवार पेठ, पुणे – 411 030

- **प्रथम संस्करण:** मई 2022

- **कॉपीराईट नहीं**

सहयोग राशि: ₹ 30/-

अनुक्रमणिका

	प्रस्तावना……..	**1**
1.	**बेरोज़गारी का दैत्य**……..……..	**3**
	नौजवानों पर भगत सिंह के विचार.	*3*
	भारत में बेरोज़गारी का संकट	*4*
2.	**बेरोज़गारी के मिथक**……..……	**11**
3.	**बेरोज़गारी के वास्तविक कारण**……..	**23**
	1. सामंतवाद बनाम पूंजीवाद	*23*
	2. पूंजीवाद और बेरोज़गारी	*24*
	3. पूंजीवाद और उपनिवेशवाद	*28*
	4. पूंजीवाद का एकाधिकारी पूंजीवाद में कायांतरण	*30*
	5. नवउदारवाद	*33*
	6. वैश्वीकरण	*38*
4.	**भारत में बेरोज़गारी**……..	**49**
	1. औपनिवेशिक लूट, अल्प-विकास और बेरोज़गारी	*49*
	2. नेहरू मॉडल, पूंजीवाद और बेरोज़गारी	*51*
	3. वैश्वीकरण और बेरोज़गारी	*55*
	4. मोदी सरकार, फासीवादी नवउदारवाद और बेरोज़गारी	*59*
	5. विभिन्न क्षेत्रों पर फासीवादी नवउदारवाद का असर	*72*
5.	**भारत में बेरोज़गारी के वास्तविक स्तर की गणना**……	**83**
6.	**गहरे संकट में भारतीय अर्थव्यवस्था**……..…….	**86**
7.	**नौकरियां निर्मित करने के कुछ सुझाव**……..……..	**90**
	1. गरीबों के लिए रोज़गार गारंटी योजना	*91*
	2. कृषि व्यय में वृद्धि	*92*
	3. संगठित कारखाना क्षेत्र में ज़्यादा नौकरियां पैदा करें	*92*
	4. लघु क्षेत्र को प्रोत्साहन	*95*
	5. ज़्यादा सरकारी नौकरियां पैदा करें	*97*
	6. पैसा कहां से आएगा?	*103*
8.	**व्यवस्था बदलने के लिए एक हों**……	**106**
	संदर्भ…….	**109**
	हमारे बारे में: लोकायत…….	**121**

पुस्तिका में प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

जीडीपी	*सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product)*
एनएसएसओ	*राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (National Sample Survey Organisation)*
पीएलएफएस	*आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (Periodic Labour Force Survey)*
एआईएसएचई	*अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण (All India Survey on Higher Education)*
एलएफपीआर	*श्रम बल सहभागिता दर (Labour Force Participation Rate)*
एफसीआई	*भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India)*
एसएपी	*संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Programme)*
एमएनसी	*बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशन्स (Multinational Corporations)*
सीएमआईई	*सेंटर फॉर मॉनिटरींग इंडियन इकॉनॉमी (Centre for Monitoring Indian Economy)*
सीएजीआर	*चक्रवृद्धि वार्षिक विकास दर (Compound Annual Growth Rate)*
ब.अ.	*बजट अनुमान (Budget Estimates)*
वा.	*वास्तविक (Actuals)*
सं.अ.	*संशोधित अनुमान (Revised Estimates)*

प्रस्तावना

हमारा देश आजादी के बाद के अपने सबसे गंभीर आर्थिक संकट का सामना कर रहा है। कोरोना महामारी से निपटने में मोदी सरकार की अक्षमता और बेरहमी के परिणामस्वरूप भारत विश्व में कोरोना वायरस से दूसरा सर्वाधिक प्रभावित देश बन गया है — दिसंबर 2020 के अंत में कुल कोविड-19 के मामले एक करोड़ अधिक थे — और इससे मरने वालों की संख्या में भारत विश्व में तीसरे स्थान पर है (आधिकारिक रिपोर्टों के अनुसार 31 दिसंबर 2020 तक कुल मौतों की संख्या लगभग 1.49 लाख थी)। इसने अर्थव्यवस्था को भी एक अभूतपूर्व संकट में धकेल दिया है। सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product, जीडीपी) के आंकड़े बताते हैं कि वित्त वर्ष 2020–21 की अप्रैल–जून तिमाही में पिछले वित्त वर्ष की तुलना में अर्थव्यवस्था में 23.9% की गिरावट आई है — यह दुनिया की प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं में गिरावट के सबसे ऊंचे आंकड़ों में से है। यह चौंकाने वाला आंकड़ा भी भारतीय अर्थव्यवस्था में वास्तविक गिरावट को नहीं दर्शाता है, क्योंकि इसमें असंगठित क्षेत्र में गिरावट के आंकड़े शामिल नहीं हैं — और यह क्षेत्र लॉकडाउन के दौरान पूरी तरह से ठप्प हो गया था। असंगठित क्षेत्र की तबाही को ध्यान में रखें, जो देश में कुल उत्पादन के 45% के लिए जिम्मेदार है, तो जीडीपी में वास्तविक गिरावट 50% तक हो सकती है।[1]

इस अभूतपूर्व आर्थिक संकट ने भयानक बेरोज़गारी को जन्म दिया है। सरकारी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं — क्योंकि सरकार ने काफी समय पहले ही आंकड़े एकत्रित करना बंद कर दिया था। लेकिन देश में बेरोज़गारी संकट की गंभीरता इसी तथ्य से ज़ाहिर है कि अनौपचारिक क्षेत्र के धराशायी होने के बाद करोड़ों प्रवासी कामगारों ने अपनी नौकरियां गंवा दी हैं। उनकी तकलीफों को दूर करने के लिए सरकार ने लगभग कुछ नहीं किया है। ये लोग वैसे ही जीवन-निर्वाह की कगार पर जीते हैं और सरकार की निष्क्रियता ने इन्हें सैकड़ों किलोमीटर पैदल चलकर अपने-अपने गांव लौटने को मजबूर कर दिया।

लॉकडाउन के चलते, युवा लोग बेरोज़गारी की बदतर होती हालत के विरुद्ध सड़कों पर उतरकर विरोध प्रदर्शन भी नहीं कर पा रहे हैं। लेकिन उन्होंने अपने कष्ट बयान करने का अनोखा तरीका अपनाया। उन्होंने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के जन्म दिन 17 सितंबर 2020 को सोशल मीडिया पर ट्वीट करने का रास्ता अख्तियार किया ताकि वे उन्हें देश में काम के संकट की याद दिला सकें। उस दिन हैशटैग #नेशनलअनएम्प्लॉयमेंटडे पर 41.8 लाख से ज़्यादा ट्वीट्स पोस्ट हुए जबकि #राष्ट्रीय_बेरोज़गारी_दिवस पर 16.8 लाख से अधिक ट्वीट्स पोस्ट किए गए;[2] और जल्द ही इस दिन को सोशल मीडिया पर राष्ट्रीय बेरोज़गारी दिवस कहा जाना लगा।

इस भयानक बेरोज़गारी संकट का कारण क्या है? कारण कोरोना महामारी कदापि

नहीं है। वास्तविक कारण देश में लागू किया जा रहा आर्थिक मॉडल है — जिसका मूल उद्देश्य कार्पोरेट मुनाफे को अधिकतम करना है, न कि लोगों के लिए अच्छी, संतोषदायक रोज़गार का निर्माण करना। इसीलिए महामारी के आने से पहले ही देश में बेरोज़गारी बहुत अधिक थी। महामारी के दौरान हुए आर्थिक विध्वंस ने इसे मात्र और बदतर किया है।

यदि केंद्र में एक लोक-हितैषी सरकार सत्ता में होती, तो वह महामारी को नियंत्रित करने के लिए समय पर सख्त कदम उठाती। तब मृत्यु दर बहुत कम होती। ऐसी सरकार आर्थिक विध्वंस व बेरोज़गारी संकट से निपटने के भी कारगर उपाय करती।

यदि हम एक ऐसे वैकल्पिक समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो सारे लोगों को अच्छी जीविका उपलब्ध कराने का प्रयास करे, ताकि वे अपनी अंतर्निहित क्षमताओं को साकार कर सकें और एक गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें, तो हमें बेरोज़गारी के वास्तविक कारणों को समझना होगा। व्यवस्था-परस्त मीडिया / बुद्धिजीवी / राजनेता तो हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम इसलिए बेरोज़गार हैं क्योंकि हम कड़ी मेहनत नहीं करना चाहते, या इसलिए कि हम पर्याप्त काबिल नहीं हैं, या इसलिए कि देश की जनसंख्या बहुत अधिक है, या इसलिए कि दलितों और पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण की व्यवस्था है, या इसलिए कि करोड़ों बांग्लादेशी देश में घुस गए हैं, या अन्य कोई ऐसा ही मूर्खतापूर्ण कारण। परिणाम यह होता है कि हम एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं और बेरोज़गारी के हालात बद से बदतर होते जाते हैं।

एक बार हम बेरोज़गारी संकट के वास्तविक कारण समझ जाएं, तो हम कमर कसकर एक ऐसा जन आंदोलन खड़ा करने के काम में जुट सकेंगे जो ऐसी मांगें उठाएगा जो वास्तव में रोज़गार पैदा करेंगी और एक हद तक संकट का समाधान होगा।

यह पुस्तिका दो वर्ष पहले, अंग्रेजी में जनवरी 2020 में लिखी गई थी जब महामारी ने पूरी दुनिया और भारत को चपेट में नहीं लिया था। सांगठनिक व्यस्तताओं के कारण हम उसे कुछ मामूली परिवर्तनों के साथ अंग्रेजी में दिसंबर 2020 में ही प्रकाशित कर पाए, और हिंदी अनुवाद मई 2022 में प्रकाशित कर रहे हैं।

जनवरी 2020 में किया गया विश्लेषण आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उस समय था, क्योंकि इसमें देश में लागू किए जा रहे आर्थिक विकास के मॉडल के तर्क की व्याख्या की गई है और बताया गया है कि कैसे बेरोज़गारी उस मॉडल का अनिवार्य सह-उत्पाद है।

इसलिए हमने दो साल पहले लिखी पुस्तिका में कोई बड़े बदलाव नहीं किए हैं। कुछ छोटे-मोटे बदलाव किए गए हैं ताकि 2020 के दौरान हुए परिवर्तनों को हिसाब में लिया जा सके।

आशा है यह पुस्तिका आपको पसंद आएगी,

लोकायत संपादकीय टीम, और संपादक, *जनता साप्ताहिक*
मई 2022

1. बेरोज़गारी का दैत्य

- *4 अप्रैल 2016: दो बहनों, 27 साल की कोमल और 25 साल की शिल्पा, ने हरियाणा के फतेहाबाद ज़िले में भुना में अपने घर पर पिता की लायसेंसशुदा पिस्तौल से गोली मारकर खुदकुशी कर ली। उच्च शिक्षित होने के बावजूद वे नौकरियां पाने में नाकाम रही थीं। कोमल ने एम.कॉम. किया था जबकि शिल्पा एम.बी.ए. थी।*
- *4 मई 2018: 31-वर्षीय अभिषेक चक्रबर्ती ने रांची में अपने कमरे में पंखे से लटककर जान दे दी। कुछ ही वर्ष पहले उसने बर्दवान विश्वविद्यालय से इलेक्ट्रॉनिक्स में बी.टेक. किया था लेकिन नौकरी नहीं मिल सकी।*
- *12 जून 2019: 28 वर्ष के नौजवान भरत अशोक खराट ने नारेगांव, औरंगाबाद में अपने घर में छत के पंखे से लटककर जान दे दी। वह एक प्रायवेट कंपनी में नौकरी करता था और कुछ महीने पहले नौकरी गंवा चुका था।*

नौजवानों पर भगत सिंह के विचार

1925 में भगत सिंह ने अपने अविस्मरणीय आलेख *युवक* में लिखा था (उस समय वे महज 17 वर्ष के थे):

> युवावस्था मानव-जीवन का वसन्तकाल है। उसे पाकर मनुष्य मतवाला हो जाता है। हजारों बोतल का नशा छा जाता है। विधाता की दी हुई सारी शक्तियाँ सहस्र धारा होकर फूट पड़ती हैं। मदांध मातंग की तरह निरंकुश, वर्षाकालीन शोणभद्र की तरह दुर्द्धर्ष, प्रलयकालीन प्रबल प्रभंजन की तरह प्रचण्ड, नवागत वसन्त की प्रथम मल्लिका कलिका की तरह कोमल, ज्वालामुखी की तरह उच्छृंखल और भैरवी-संगीत की तरह मधुर युवावस्था है। उज्जवल प्रभात की शोभा, स्निग्ध सन्ध्या की छटा, शरच्चन्द्रिका की माधुरी ग्रीष्म-मध्याह्न का उत्ताप और भाद्रपदी अमावस्या के अर्द्धरात्र की भीषणता युवावस्था में निहित है। जैसे ... रण-रस-रसिक वीर के हाथ में खड्ग, वैसे ही मनुष्य की देह में युवावस्था। ... युवक के कीर्तिमान से संसार का इतिहास भरा पड़ा है। युवक ही रणचण्डी के ललाट की रेखा है। युवक स्वदेश की यश-दुन्दुभि का तुमुल निनाद है। युवक ही स्वदेश की विजय-वैजयंती का सुदृढ़ दण्ड है। वह महाभारत के भीष्मपर्व की पहली ललकार के समान विकराल है, प्रथम मिलन के स्फीत चुम्बन की तरह सरस है, रावण के अहंकार की तरह निर्भीक है, प्रह्लाद के सत्याग्रह की तरह दृढ़ और अटल है। अगर किसी विशाल हृदय की आवश्यकता हो, तो युवकों के हृदय टटोलो। अगर किसी आत्मत्यागी वीर की चाह हो, तो युवकों से मांगो। ... ईश्वरीय रचना-कौशल का एक उत्कृष्ट नमूना है

> युवक। ... अद्भुत है उसका साहस। अमोघ है उसका उत्साह। वह निश्चिन्त है, असावधान है। लगन लग गयी, तो रात-भर जागना उसके बाएं हाथ का खेल है, जेठ की दुपहरी चैत की चांदनी है, सावन-भादों की झड़ी मंगलोत्सव की पुष्पवृष्टि है, श्मशान की निस्तब्धता, उद्यान का विहंग-कल कूजन है। वह इच्छा करे तो समाज और जाति को उद्बुद्ध कर दे, देश की लाली रख ले, राष्ट्र का मुखोज्ज्वल कर दे, बड़े-बड़े साम्राज्य उलट डाले। पतितों के उत्थान और संसार के उद्धारक सूत्र उसी के हाथ में हैं।

भगत सिंह कदापि अतिशयोक्ति नहीं कर रहे हैं। वास्तव में युवाओं की ताकत ऐसी ही होती है। किसी भी देश के नौजवानों में विपुल शक्ति होती है, अथाह ऊर्जा होती है, असीम उत्साह होता है, असाधारण सृजनात्मकता होती है और अनंत क्षमताएं होती हैं। ऐसे में यह कोई अचरज की बात नहीं है कि अपने भावी विकास के प्रति चिंतित कोई भी समाज अपने नौजवानों की स्नेहपूर्वक देखभाल करता है और उनकी अनंत ऊर्जाओं का दोहन अपने विकास के लिए करने का प्रयास करता है।

बदकिस्मती से, हमारे देश में, आत्मश्लाघा में आकंठ डूबे हमारे नीतिकारों ने हमारे नौजवानों के दोनों हाथ काटकर उन्हें दुर्बल बना दिया है। उनकी अनंत ऊर्जा का दोहन देश के विकास के लिए करने की बजाय उन्हें बेरोज़गार कर दिया गया है। आंखों में सपने, चेहरे पर चमक और पैरों में छलांग की बजाय करोड़ों युवा, अर्थपूर्ण और पर्याप्त वेतन वाली नौकरियां न मिलने के कारण अपमानित होते हैं, गहरी हताशा महसूस करते हैं और लाचारी से घिर जाते हैं।

भारत में बेरोज़गारी का संकट

देश को जकड़ रहे बेरोज़गारी के संकट की गंभीरता को चंद आंकड़ों में ही देखा जा सकता है:

- *31 जनवरी 2017:* पश्चिम बंगाल ग्रुप-डी भर्ती मंडल ने विभिन्न श्रेणियों में ग्रुप-डी के 6,000 कर्मचारियों की नियुक्ति हेतु ऑनलाइन आवेदन आमंत्रित किए थे। इन नौकरियों के लिए 25 लाख से ज़्यादा उम्मीदवारों ने आवेदन किया, जिनमें स्नातक, स्नातकोत्तर और पीएच.डी. तक शामिल थे। इस नौकरी के लिए शैक्षणिक योग्यता कक्षा 7 थी और वेतन लगभग 16,000 रुपए था।[3]
- *30 अगस्त 2018:* उ.प्र. पुलिस में संदेशवाहक के 62 पदों के लिए 93,000 से अधिक उम्मीदवारों ने आवेदन किया, जिनमें 3,700 पीएच.डी. धारक, 50,000 स्नातक और 28,000 स्नातकोत्तर थे जबकि इस पद के लिए वांछित योग्यता थी कि उम्मीदवार कक्षा 5 उत्तीर्ण हो तथा उसे सायकिल चलाना आना चाहिए।[4]

- *22 नवंबर 2019:* तकरीबन 5 लाख स्नातक, स्नातकोत्तर, एम.बी.ए. व एम.सी.ए. उपाधि-धारकों ने बिहार विधान सभा में ग्रुप-डी (अर्थात चपरासी, माली, द्वारपाल, सफाईकर्मी, वगैरह) के 166 रिक्त पदों के लिए आवेदन किया। नौकरी के लिए शैक्षणिक योग्यता कक्षा 10 थी।[5]

1. बेरोज़गारी संकट को छिपाने के लिए आंकड़े दबाना

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी यह कहते नहीं थकते कि अर्थव्यवस्था बढ़िया चल रही है और देश में कोई बेरोज़गारी संकट नहीं है। 11 अगस्त 2018 को *ANI* को दिए गए एक साक्षात्कार (जो किसी भी तरह के गंभीर प्रति-प्रश्न से रिक्त था) में जब भारत में वर्तमान रोज़गार परिदृश्य के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि जब अर्थव्यवस्था इतनी तेज़ गति से वृद्धि कर रही है, जो शायद दुनिया की बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में सबसे तेज़ है, जब अधोसंरचना परियोजनाओं में निवेश और क्रियांवयन की रफ्तार अब तक के सबसे ऊंचे स्तर पर हैं, जब प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रवाह अब तक के सबसे ऊंचे स्तर पर है, जब भारत सर्वोच्च स्टार्ट-अप हब के रूप में उभरा है, जब बेशुमार सेक्टर्स में ऐप-आधारित एग्रीगेटर्स फल-फूल रहे हैं, जब विदेशी व घरेलू पर्याटन बढ़ रहा है, जब पहली बार 3.5 करोड़ नए उद्यमियों को प्रधानमंत्री मुद्रा योजना के अंतर्गत ऋण दिए गए हैं, तो ऐसा कैसे हो सकता है कि नौकरियों का सृजन न हो रहा हो? दरअसल, उन्होंने दावा किया कि "इस सबके चलते मात्र पिछले वर्ष में एक करोड़ से ज़्यादा नौकरियों का सृजन हुआ।"[6] प्रधानमंत्री मोदी ने 7 फरवरी 2019 के दिन लोक सभा में बोलते हुए भी इसी तर्क का उपयोग किया। विपक्ष का दावा था कि देश में बेरोज़गारी पिछले 45 वर्षों में सबसे उच्च स्तर पर है; इसका खंडन करते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने कहा कि पिछले पांच वर्षों में परिवहन, होटल उद्योग, हाईवे निर्माण, नए हवाई अड्डों और रेल्वे स्टेशनों के आधुनिकीकरण जैसे क्षेत्रों में करोड़ों नौकरियां पैदा हुई हैं।[7]

अलबत्ता, रोज़गार सर्वेक्षण के आंकड़े मोदी के इन दावों को झुठलाते हैं। मोदी सरकार के प्रथम कार्यकाल के दूसरे साल के दौरान, सितंबर 2016 में वार्षिक रोज़गार–बेरोज़गारी सर्वेक्षण के पांचवे चक्र के आंकड़े जारी किए गए थे। यह सर्वेक्षण श्रम व रोज़गार मंत्रालय करता है। इस रिपोर्ट ने दर्शाया कि भारत में बेरोज़गारी की दर 2015–16 में पांच वर्ष के सबसे उच्च स्तर (5%) पर पहुंच गई है। सरकार हड़बड़ाई, और उसने न सिर्फ आगे होने वाले सारे वार्षिक रोज़गार–बेरोज़गारी सर्वेक्षण निरस्त कर दिए बल्कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (National Sample Survey Organisation, एनएसएसओ) द्वारा किया जाने वाला पंचवर्षीय रोज़गार–बेरोज़गारी सर्वेक्षण भी रद्द कर दिया — जिसका अगला चक्र 2016–17 में होना निर्धारित था। रोज़गार और बेरोज़गारी सम्बंधी यह सर्वेक्षण 1972–73 से शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में नियमित रूप से हर पांच साल में एक बार किया जाता रहा है। यह सर्वेक्षण देश में रोज़गार और बेरोज़गारी की मात्रा और संरचना के बारे में

व्यापक जानकारी देता है, साथ ही कामगारों और गैर-कामगारों की गुणवत्ता के बारे में कई अन्य सूचकांक भी उपलब्ध कराता है।[8]

इन सर्वेक्षणों को रद्द करने के परिणामस्वरूप, सरकार ने अगले तीन वर्षों के लिए देश में बेरोज़गारी की स्थिति को लेकर कोई आधिकारिक आंकड़े जारी नहीं किए। रोज़गार–बेरोज़गारी सर्वेक्षण रद्द करने के लिए सरकार की बहुत आलोचना हुई। काफी विलंब के बाद अंततः उसने एक अलग रोज़गार सर्वे शुरू किया — एनएसएसओ द्वारा आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (Periodic Labour Force Survey, पीएलएफएस)। यह सर्वेक्षण जुलाई 2017 और जून 2018 के बीच किया गया। लेकिन लोक सभा चुनाव सामने थे और मोदी सरकार ने इसके आंकड़े भी रोक रखने का निर्णय लिया। यह निर्णय इसके बावजूद लिया गया था कि राष्ट्रीय सांख्यिकी आयोग, जो देश की सांख्यिकीय गतिविधियों का समन्वय करने वाली शीर्ष संस्था है, ने ये आंकड़े जारी करने की स्वीकृति दे दी थी। राष्ट्रीय सांख्यिकी आयोग एक स्वायत्त निकाय है; सरकार को उसके कामकाज में दखल नहीं देना चाहिए। उक्त निर्णय के विरोध में आयोग के कार्यकारी अध्यक्ष समेत दो सदस्यों ने 28 जनवरी 2019 को इस्तीफा दे दिया।[9]

2019 के लोक सभा चुनाव पूरे हो जाने के बाद, अंतत: सरकार ने पीएलएफएस के दबाए गए आंकड़े जारी किए। आंकड़ों से पता चला कि 2017–18 में बेरोज़गारी 6.1% थी जो पिछले 45 वर्षों में सर्वाधिक थी।[10] उससे भी बुरी बात यह पता चली कि 2011–18 की अवधि में ज़्यादा नौकरियां सृजित होना तो दूर, वास्तव में नौकरियों की कुल संख्या कम हुई थी (देखें तालिका 1)। ऐसा आज़ादी के बाद पहली बार हुआ है।

तब से सरकार ने बेरोज़गारी के कोई आंकड़े जारी नहीं किए हैं। लेकिन हम जीडीपी वृद्धि के आंकड़ों से बेरोज़गारी की स्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं। केंद्रीय सांख्यिकी कार्यालय द्वारा जारी किए गए आंकड़े बताते हैं कि कोरोना प्रकोप से पहले ही अर्थव्यवस्था धीमी होकर मंदी के करीब पहुंच रही थी: भारत की जीडीपी वृद्धि दर 2018–19 में 6.1% से घटकर वित्त वर्ष 2019–20 में 4.2% और जनवरी–मार्च 2020 की तिमाही में 3.1% पर आ गई थी। इससे बेरोज़गारी का संकट और गहरा गया होगा।

इसके बाद कोरोना महामारी आई, सरकार ने तालाबंदी कर दी, अर्थव्यवस्था तेजी से सिकुड़ी और अप्रैल–जून 2020 की तिमाही के दौरान उसमें 24% की गिरावट आई। बेरोज़गारी रिकॉर्ड ऊंचाई पर पहुंच गई होगी।

2. भारत में बेरोज़गारी का प्रारंभिक अनुमान

सरकारी सर्वेक्षणों में आंकड़ा संग्रहण की पद्धति में एक महत्वपूर्ण समस्या है, जो कृत्रिम ढंग से बेरोज़गारी को कम करके बताती है। बेरोज़गारों की संख्या श्रम बल (रोज़गार-प्राप्त और बेरोज़गार लोगों की कुल संख्या) और कार्य बल (रोज़गार-प्राप्त लोगों की संख्या) के बीच का अंतर है। इसलिए, यदि कार्य बल न बढ़े किंतु श्रम बल कम हो जाए, तो

बेरोज़गारी में कमी नज़र आएगी। भारत की सरकारी रोज़गार सांख्यिकी के साथ ठीक यही हो रहा है। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक, 1983 से 1993–94 की अवधि में भारत का श्रम बल 2.05% की वार्षिक दर से बढ़ा, लेकिन 1993 से 2010–11 के बीच यह वृद्धि दर घटकर 1.40% रह गई और फिर 2010–11 और 2017–18 के दरम्यान यह और गिरकर मात्र 0.33% रह गई (तालिका 1)।

तालिका 1: भारत: श्रम बल, कार्य बल और बेरोज़गारी की दर[11]

वर्ष	*श्रम बल (करोड़ में)*	*कार्य बल (करोड़ में)*	*बेरोज़गारी दर*	*अवधि*	*श्रम बल वृद्धि दर*
1983	30.86	30.28	1.88%		
1993–94	38.19	37.45	1.94%	1983 से 1993–94	2.05%
2010–11	48.37	47.29	2.23%	1993–94 से 2010–11	1.40%
2017–18	49.51	46.51	6.06%	2010–11 से 2017–18	0.33%

चलिए यह गणना करते हैं कि यदि श्रम बल उसी दर से बढ़ता रहता जितना 1983 से 1993–94 की अवधि में बढ़ रहा था (2.05% वार्षिक), तो 2017–18 में उसका आकार कितना होता। *ऐसे में 2017–18 में श्रम बल 49.51 करोड़ की बजाय 62.08 करोड़ होता।* इसका मतलब है कि 12.57 करोड़ लोग श्रम बल में से नदारद हैं।

श्रम बल में इतनी तेज़ गिरावट की क्या व्याख्या हो सकती है?

मुख्यधारा के अर्थशास्त्री इसके लिए मुख्य तर्क यह देते हैं कि महाविद्यालयों में दाखिलों की संख्या बढ़ी है। निसंदेह, इससे श्रम बल का आकार घट जाएगा, और पिछले तीन दशकों में उच्च शिक्षा में दाखिलों की संख्या सचमुच बढ़ी है। सवाल है कि कितनी बढ़ी है? अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण (All India Survey on Higher Education, एआईएसएचई) डिप्लोमा पाठ्यक्रम समेत उच्च शिक्षा के समस्त स्तरों पर कुल दाखिलों का आंकड़ा देता है। यह सर्वेक्षण सबसे पहले 2010–11 में किया गया था। 2010–11 और 2017–18 की एआईएसएचई रिपोर्ट्स दर्शाती हैं कि उच्च शिक्षा में कुल दाखिलों की संख्या (नियमित छात्र) 2010–11 में 2.41 करोड़ थी और 2017–18 में बढ़कर 3.26 करोड़ हो गई थी। अर्थात इन सात वर्षों में 85 लाख (0.85 करोड़) की वृद्धि हुई। इसका मतलब हुआ कि चक्रवृद्धि वार्षिक विकास दर (Compound Annual Growth Rate, सीएजीआर) 4.36% रही।[12] यदि यह मान लिया जाए कि इससे पहले की अवधि (1993–94 से 2010–11) में भी यही सीएजीआर रही थी (वास्तविक दर इससे कम ही रही होगी), तो 1993–94 में उच्च शिक्षा में दाखिलों की संख्या 1.17 करोड़ निकलती है। इसका

मतलब है कि 1993–94 से 2017–18 की अवधि में उच्च शिक्षा में कुल दाखिले (3.26 – 1.17 =) 2.09 करोड़ बढ़े। अर्थात श्रम बल में 12.57 करोड़ लोगों की जो कमी दिख रही है, उसमें से मात्र 16.6% की व्याख्या उच्च शिक्षा में दाखिलों के आधार पर की जा सकती है। वैसे तो यह भी एक अतिशयोक्ति है क्योंकि उच्च शिक्षा में छात्रों की एक बड़ी संख्या की गणना श्रम बल में होनी चाहिए, भले ही वे कॉलेजों में नामांकित हों — क्योंकि वे या तो अंशकालिक या नियमित नौकरी कर रहे हैं, या नौकरी की तलाश में हैं। कला व वाणिज्य पाठ्यक्रमों में नामांकित छात्रों के लिए तो यह विशेष रूप से सच है; और स्नातक स्तर पर इन पाठ्यक्रमों में नामांकित छात्रों की संख्या उच्च शिक्षा में कुल छात्र नामांकन का 39% है।[13]

अत:, महाविद्यालयों में अधिक दाखिले श्रम बल में तेज़ गिरावट का केवल आंशिक कारण हो सकते हैं। श्रम बल में तेज़ गिरावट की संभव व्याख्या मात्र एक और कारण के आधार पर की जा सकती है, और वह है कि कई श्रमिकों ने हताश होकर नौकरी तलाश करना ही बंद कर दिया है — क्योंकि वे लंबे समय तक कोई नौकरी नहीं पा सके हैं। आधिकारिक शब्दावली में, उन्हें 'निरुत्साहित श्रमिक' कहा जाता है। इन श्रमिकों को न तो बेरोज़गारों के आधिकारिक आंकड़ों में गिना जाता है, और न ही वे श्रम बल में शामिल किए जाते हैं। लेकिन वास्तव में उन्हें दोनों में शामिल किया जाना चाहिए, क्योंकि वे श्रम बल से स्वेच्छा से नहीं, हताशा के कारण बाहर हुए हैं! अपने सभी लोगों को समुचित नौकरी प्रदान करने के लिए प्रयासरत कोई भी जनहितैशी व्यवस्था इन श्रमिकों को श्रम बल में वापस लाने की कोशिश करेगी।

चलिए, अब निरुत्साहित श्रमिकों को शामिल करके 2017–18 में बेरोज़गारी की दर की गणना करते हैं:

- 1993–94 से 2017–18 की अवधि में श्रम बल में से नदारद श्रमिकों की संख्या (क) = 12.57 करोड़;
- 1993–94 से 2017–18 की अवधि में उच्च शिक्षा में दाखिल छात्रों की संख्या में वृद्धि (ख) = 2.09 करोड़;
- निरुत्साहित श्रमिकों की कुल संख्या (क–ख) = 10.48 करोड़;
- 2017–18 में आधिकारिक श्रमिक बल = 49.51 करोड़;
- 2017–18 में वास्तविक श्रम बल (ग) = 49.51 + 10.48 = 59.99 करोड़;
- बेरोज़गारों की आधिकारिक संख्या = 3 करोड़;
- बेरोज़गारों की वास्तविक संख्या (घ) = 3.0 + 10.48 = 13.48 करोड़;
- 2017–18 में बेरोज़गारी की वास्तविक दर = (घ/ग) = 22.5%

यह 6.1% की आधिकारिक बेरोज़गारी दर (पीएलएफएस 2017–18 के आंकड़ों से

अनुमानित) का लगभग 4 गुना है। तब से, जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, बेरोज़गारी की स्थिति और भी बदतर हुई है।

युवा बेरोज़गारी

एनएसएसओ / पीएलएफएस सर्वेक्षणों से यह भी पता चलता है कि देश में युवा बेरोज़गारी का स्तर औसत बेरोज़गारी के स्तर से कहीं बदतर है। आंकड़े दिमाग चकरा देने वाले हैं। 2004–05 में युवा बेरोज़गारी की दर 5.4% थी जो बढ़कर 2011–12 में 6.1% तथा 2017–18 में 17.8% हो गई थी (तालिका 2)। यह आंकड़ा 2017–18 में औसत बेरोज़गारी के सरकारी आंकड़े (6.1%) से तीन गुना अधिक है।

तालिका 2: युवा (15–29 वर्ष): श्रम बल और बेरोज़गारी के रुझान, 2005–18[14]

वर्ष	*श्रम बल (करोड़ में)*	*कार्य बल (करोड़ में)*	*बेरोज़गारी दर (%)*	*एलएफपीआर (%)*
2004–05	16.31	15.42	5.46	56.4
2011–12	14.70	13.80	6.12	44.6
2017–18	14.07	11.57	17.77	38.3

युवा बेरोज़गारी का यह ऊंचा आंकड़ा भी वास्तविकता से कम ही है। यह श्रम बल सहभागिता दर (Labour Force Participation Rate, एलएफपीआर) में तेज़ी से हुई गिरावट को देखने से स्पष्ट हो जाता है (एलएफपीआर = श्रम बल में कुल व्यक्तियों की संख्या/ उस उम्र समूह की कुल जनसंख्या)। 2004–05 में एलएफपीआर 56.4% था जो 2017–18 में घटकर 38.3% रह गया था। उच्च शिक्षा में बढ़े हुए दाखिले इसकी आंशिक व्याख्या ही कर सकते हैं, क्योंकी यह गिरावट बहुत ज्यादा है। इसका मतलब है कि बड़ी संख्या में युवा, नौकरी पाने में असफलता से उत्पन्न हताशा के कारण, नौकरी की तलाश ही छोड़ दे रहे हैं और श्रम बल से बाहर हो रहे हैं। यदि हम 'निरुत्साहित' युवाओं को श्रम शक्ति और बेरोज़गारी के आंकड़ों में शामिल करते हैं, तो 2017–18 के लिए युवा बेरोज़गारी दर 40.2% के खतरनाक स्तर पर पहुंच जाती है।[15] तब से, अर्थव्यवस्था धीमी हो गई है, जिसने युवा बेरोज़गारी को और विकट बना दिया होगा।

वास्तविक बेरोज़गारी और भी अधिक

बेरोज़गारी के ये उच्च आंकड़े भी कम आंकते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि भारत में कोई बेरोज़गारी भत्ता नहीं है। इसलिए, लोग जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ कमाने की कोशिश करते हैं। वे कोई भी उपलब्ध नौकरी करने लगते हैं या किसी भी किस्म का काम करते हैं — भले ही वह खतरनाक और कम कमाई वाला हो। वास्तव में ऐसे सभी श्रमिकों को 'अल्प-रोज़गारशुदा' (underemployed) और इसलिए अर्ध-बेरोज़गार माना जाना

चाहिए। ऊपर दिए गए बेरोज़गारी के आंकड़ों में ऐसे सभी श्रमिकों को शामिल करने से देश में बेरोज़गारी दर हैरतअंगेज़ स्तर पर पहुंच जाएगी! हम इस मुद्दे पर इस पुस्तिका में थोड़ी देर बाद चर्चा करेंगे और देश में वास्तविक बेरोज़गारी दर का अनुमान लगाएंगे।

3. बेरोज़गारी की पीड़ा

बेरोज़गार युवा की पीड़ा और यातना की कल्पना करना मुश्किल है। वे अपने जीवन के उस पड़ाव पर होते हैं जब उनकी ऊर्जा असीमित होती है, जोशे जवानी उड़ान भरने को तैयार होता है, और उनकी असाधारण सृजनशीलता बाहर निकलने को आतुर होती है — किंतु बेरोज़गार होने की वजह से वे कुछ कर नहीं पाते। उन्हें हर पल अपमान का घूंट पीना पड़ता है। दुकानों में सजी तमाम आकर्षक मगर महंगी वस्तुएं, महंगे टिकट वाले मोहक सिनेमा मॉल्स, लुभाती स्टारबक्स और बैरिस्टा कॉफी शॉप्स, और तेज़ रफ्तार वाली मोटरसायकिलें उनका मुंह चिढ़ाती हैं। उनके माता-पिता, रिश्तेदार और पड़ोसी उन्हें अक्षम, असफल, बेकार कहते हैं। भविष्य अंधकारमय नज़र आता है; जीवन ही निरर्थक प्रतीत होता है।

तो वे स्वयं को ड्रग्स और शराब में डुबो लेते हैं। तमाम किस्म के पाखंडी धर्मगुरुओं के अनुयायी बन जाते हैं। आपराधिक गिरोहों में शामिल हो जाते हैं। किसी प्रकार से थोड़ा-बहुत कमाने के लिए वे बार में नाचते हैं या अपने शरीर बेचते हैं।

तरह-तरह के अनैतिक लोग उनका शोषण करते हैं। *'हृदय सम्राट'* और राजनीतिक मठाधीश उन्हें नौकरी का वायदा करते हैं; अन्य लोग उन्हें वड़ा-पाव का खोमचा या छोटा-मोटा ठेका दिलाने का आश्वासन देते हैं। ये लोग युवाओं की लाचारी का फायदा उठाते हैं और उन्हें अपने चमचे बनाकर अपने गोरख धंधे करवाते हैं, चुनाव में प्रचार-प्रसार करवाते हैं, गुंडागर्दी और दंगों में इस्तेमाल करते हैं, सोशल मीडिया पर झूठी खबरें फैलाते हैं, इत्यादि। जातिगत नेता उन्हें सरकारी नौकरियों में आरक्षण दिलवाने की बात करते हैं या जाति के 'सम्मान' की रक्षा के लिए उन्हें संगठित करते हैं, और लाखों युवा इन रैलियों में शरीक होते हैं। सांप्रदायिक या फासीवादी संगठन उनकी हताशा का दोहन करते हैं और उनसे 'धार्मिक प्रतिष्ठा' या 'राष्ट्रीय गौरव' की रक्षा के लिए 'दूसरों' पर हमले करवाते हैं; दसियों हज़ार युवा धर्म या राष्ट्र के सम्मान की रक्षा के नाम पर लामबंद हो जाते हैं। लाखों युवा धार्मिक त्योहारों के समय निकाली जाने वाली शोभा यात्राओं में और महान जातिगत / सामुदायिक नेताओं की जयंतियों पर आयोजित सम्मेलनों में भाग लेते हैं, इन अवसरों पर देर रात तक डीजे के कानफोड़ू संगीत की ताल पर नाचते हैं। वे फासीवादी संगठनों के गुंडे बन जाते हैं और लिंचिंग और बददिमाग हिंसा में लिप्त हो जाते हैं।

बेरोज़गार युवा या तो मृत्यु से भी बदतर जीवन जीते हैं या हताश होकर खुदकुशी कर लेते हैं। भारत में 15–29 वर्ष की उम्र के युवाओं की खुदकुशी की दर दुनिया में सबसे ज़्यादा में से है। हर घंटे भारत में एक युवा खुदकुशी करता है; 2011–15 की पांच वर्ष की

अवधि में 40,000 युवाओं ने खुद की जान ले ली। अखबारी रिपोर्टों के मुताबिक, इन आत्महत्याओं में से एक बड़ी संख्या का सम्बंध बेरोज़गारी से था।[16]

2. बेरोज़गारी के मिथक

देश बेरोज़गारी के जिस विकराल संकट का सामना कर रहा है, उसके वास्तविक कारणों की चर्चा करने से पहले, आइए इस संकट के कारणों के बारे में कुछ प्रचलित धारणाओं की बात करते हैं।

युवाओं के किसी भी समूह, चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, से बात करेंगे, तो वे देश में व्याप्त बेरोज़गारी के लिए आमतौर पर एक जैसी 2 या 3 या 4 व्याख्याएं पेश करेंगे। ये सारी प्रचलित धारणाएं वास्तव में मिथ्या हैं। फिर भी अधिकांश लोग इन्हें मानने लगे हैं क्योंकि हमारे नीतिकार और बिकाऊ बुद्धिजीवी इन्हें जानबूझकर प्रचारित करते रहे हैं। ये मिथक बेरोज़गारी का दोष स्वयं युवाओं या समाज के मत्थे मढ़ते हैं — यानी, नीतिकार देश में नौकरियों के अभाव के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं।

मिथक 1: भारत की जनसंख्या इतनी अधिक है कि सब लोगों को नौकरी देना संभव ही नहीं है।

बताते हैं कि हिटलर के प्रचार मंत्री जोसेफ गोएबल्स ने कहा था, "किसी झूठ को बार-बार दोहराओ, तो लोग उसे सच मानने लगते हैं।" उनके नक्शेकदम पर चलते हुए हमारे देश के सरकारी बुद्धिजीवी यह मिथक प्रचारित करते रहे हैं कि भारत की विशाल आबादी ही देश में बेरोज़गारी के व्यापक संकट के लिए ज़िम्मेदार है। एक बार इस तर्क पर विश्वास कर लें, तो बेरोज़गारी के संकट के लिए नीतिकार जवाबदेह नहीं रह जाते। वे दावा कर सकते हैं कि: हम नौकरियों के सृजन के लिए भरसक कोशिश कर रहे हैं, लेकिन हमारे सारे प्रयास बेकार जाते हैं क्योंकि देश की जनसंख्या इतनी अधिक है। तब दोष हमारे यानी जनता के सिर पर आ जाता है: हम बेरोज़गार हैं क्योंकि हमारी संख्या बहुत ज़्यादा है। व्यवस्था के चाटुकार अपने प्रचार में इतने कामयाब रहे हैं कि संभवत: देश के 98% लोग इस पर विश्वास करते हैं।

इस मिथक को एक आसान से तर्क से ध्वस्त किया जा सकता है। मान लीजिए दो इलाके हैं, A और B। A का क्षेत्रफल 10 वर्ग कि.मी. है और B का क्षेत्रफल 20 वर्ग कि.मी.।

A: क्षेत्रफल 10 वर्ग कि.मी. *B: क्षेत्रफल 20 वर्ग कि.मी.*

A की जनसंख्या 50 है और B की जनसंख्या 80 है। तो किस क्षेत्र की जनसंख्या अधिक है? अधिकांश पाठकों का जवाब होगा: A की जनसंख्या अधिक है। ऐसा क्यों है,

जबकि B इलाके में रहने वाले लोगों की संख्या A इलाके से अधिक है? वे जवाब देंगे: क्योंकि A का जनसंख्या घनत्व B की तुलना में अधिक है।

तो ज़ाहिर है, महत्व जनसंख्या का नहीं बल्कि जनसंख्या घनत्व का है। लेकिन अधिकांश पाठक अब कहेंगे, भारत का जनसंख्या घनत्व भी बहुत अधिक होगा।

आइए, भारत के जनसंख्या घनत्व की तुलना कुछ अन्य देशों से करते हैं (तालिका 3)। भारत को छोड़कर इस तालिका के सारे देश उच्च आमदनी वाले देश हैं। भारत को एक निम्न मध्यम आमदनी वाले देश के रूप में वर्गीकृत किया जाता है (विश्व बैंक वर्गीकरण)। हालांकि इन उच्च आमदनी वाले देशों के जनसंख्या घनत्व भारत से अधिक या समान हैं, फिर भी उनकी बेरोज़गारी और गरीबी के स्तर काफी कम हैं। इसका सीधा-सा मतलब है कि बेरोज़गारी की दर का किसी देश के जनसंख्या घनत्व से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

तालिका 3: भारत व अन्य देशों का जनसंख्या घनत्व, 2019[17]

देश	***जनसंख्या घनत्व*** *(प्रति वर्ग कि.मी.)*
जापान	348
बेल्जियम	381
इस्राइल	394
नेदरलैंड्स	507
दक्षिण कोरिया	527
ताइवान	671
भारत	460

एक अलग किस्म का उदाहरण लेते हैं। ब्राज़ील की जनसंख्या 20.8 करोड़ है और जनसंख्या घनत्व 25 निवासी प्रति वर्ग कि.मी. है (2017 में)। ये आंकड़े युरोपीय संघ (EU-28) की जनसंख्या और जनसंख्या घनत्व की तुलना में बहुत कम हैं। युरोपीय संघ की जनसंख्या 50.6 करोड़ है और जनसंख्या घनत्व लगभग 116 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी. है।[18] इसके बावजूद ब्राज़ील में बेरोज़गारी दहाई में है, जबकि EU-28 में बेरोज़गारी तुलनात्मक रूप से काफी कम, लगभग 7.5%, है।[19]

तो ज़ाहिर है कि भारत के बेरोज़गारी संकट का कारण जनसंख्या तो नहीं है। दरअसल, यदि हम इस मुद्दे की छानबीन थोड़ी गहराई में करें, तो पाएंगे कि जनसंख्या वृद्धि और रोज़गार सृजन के बीच प्रतिकूल सम्बंध नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे को सहारा देते हैं। जितनी अधिक जनसंख्या होगी, उतने ही अधिक उत्पादन — भोजन, साबुन, तेल, वस्त्र, आवास, वगैरह — की ज़रूरत होगी और इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए ज़्यादा कामगारों की ज़रूरत होगी। समाज को ज़्यादा स्कूलों, अस्पतालों, बसों, वगैरह की भी ज़रूरत होगी।

इसका मतलब होगा कि इन सब क्षेत्रों में ज़्यादा नौकरियां पैदा होंगी। लिहाज़ा, भारत में बेरोज़गारी के उच्च स्तर के लिए उसकी जनसंख्या अथवा जनसंख्या घनत्व ज़िम्मेदार नहीं है; कारण कहीं और है।

लेकिन देश की समस्याओं का कारण अति-जनसंख्या होने के मिथक की जड़ें इतनी गहरी हैं कि कई पाठकों को अभी भी उपरोक्त तर्क को स्वीकार करने में कठिनाई हो रही होगी। तो आइए, कुछ और आंकड़ों पर विचार करते हैं। अति-जनसंख्या का तर्क संसाधनों के संदर्भ में सबसे ज़्यादा सामने आता है — कि हमारे संसाधन सीमित हैं, और ये इतनी बड़ी जनसंख्या का निर्वाह नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, यह तर्क दिया जाता है कि हमारे देश में भूखमरी का संकट इसलिए है क्योंकि इतनी बड़ी आबादी को खिलाने के लिए हमारे पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि नहीं है। अब यदि हम भारत और चीन की कृषि की तुलना करें, तो हम पाएंगे कि हालांकि भारत का क्षेत्रफल चीन से एक-तिहाई है, लेकिन हमारी कृषि योग्य भूमि चीन से थोड़ी ज़्यादा है। फिर भी भारत की तुलना में चीन 40% अधिक गेहूं और चावल का उत्पादन करता है, और चीन का फल उत्पादन भारत से तिगुना है![20] तो स्पष्ट है कि हम आज के मुकाबले बहुत ज़्यादा अनाज और दालें और फल पैदा कर सकते हैं, बात नीतियों की है। दूसरी तरफ, हालांकि भारत का कृषि उत्पादन चीन की अपेक्षा काफी कम है, लेकिन फिर भी हमारे गोदाम अनाज से भरे पड़े हैं। चीन की जनसंख्या भारत से थोड़ी ही अधिक है लेकिन वैश्विक भूख सूचकांक (Global Hunger Index) के अनुसार चीन में भूख का स्तर भारत से कहीं कम है। भारत में भूख का भयावह स्तर हमारी विशाल जनसंख्या या खाद्यान्न की कमी के कारण नहीं है बल्कि इसलिए है क्योंकि हमारे लोग इतने गरीब हैं कि खाद्यान्न खरीद नहीं सकते। एक बार फिर, यह नीतियों का सवाल है। सरकार लोगों को रियायती दामों पर खाद्यान्न वितरित करके भूख के इस संकट से निजात पा सकती है। लेकिन वह ऐसा करने की इच्छुक नहीं है; ऐसा करने की बजाय सरकार डॉलर कमाने के लिए खाद्यान्न का निर्यात कर रही है — भारत दुनिया का सबसे बड़ा चावल निर्यातक बन गया है![21]

लोगों के प्रति हमारे नीतिकारों की उदासीनता वर्तमान कोरोना महामारी के दौरान नग्न रूप से स्पष्ट हो गई है। भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India, एफसीआई) के पास जून 2020 के अंत में खाद्यान्न भंडार 10.4 करोड़ टन हो गया था। देश में खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिये एफसीआई के पास जितना खाद्यान्न भंडार (इसे बफर स्टॉक कहा जाता है) होना चाहिए (4.1 करोड़ टन), यह उससे बहुत ज्यादा है।[22] तो दूसरी तरफ, राशन प्रणाली को सार्वभौमिक बनाने के बारे में सरकार की अनिच्छा के कारण देश एक अभूतपूर्व भूख संकट का सामना कर रहा है। यदि सरकार 80% आबादी को, यानी 100 करोड़ लोगों को, अगले छह महीनों के लिए, 10 किलो खाद्यान्न प्रति व्यक्ति प्रति महीना वितरित करती है, तो इसके लिए कुल 6 करोड़ टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी; इसके बाद भी एफसीआई के पास पर्याप्त से अधिक बफर स्टॉक रहेगा।

दूसरे शब्दों में, हमारे देश में भूख की आपात स्थिति देश की बड़ी आबादी के कारण नहीं है; उसका असली कारण है हमारी सरकार की नीतियां, लोगों पर खर्च करने की उसकी अनिच्छा।

मिथक 2: हम बेरोज़गार हैं क्योंकि हम पर्याप्त सक्षम नहीं हैं।

बेरोज़गार युवाओं द्वारा दिया जाने वाला यह एक और आम जवाब है — कि उन्हें ठीक-ठाक नौकरी नहीं मिल पाती है क्योंकि वे पर्याप्त सक्षम नहीं हैं।

उनसे पूछिए कि उन्होंने कौन सी डिग्री ली है, तो अधिकांश जवाब देंगे — बी.ए. / बी.कॉम. / बी.एससी.। उनसे पूछिए, कि उन्होंने ऐसी डिग्री क्यों ली जो आज उन्हें नौकरी नहीं दिला सकती, और उन्होंने इंजीनियरिंग / मैनेजमेंट / चिकित्सा पाठ्यक्रम में प्रवेश क्यों नहीं लिया, तो उनका जवाब होगा कि इसकी वजह है कि वे गरीब हैं, और उनके पास इन पाठ्यक्रमों की फीस भरने के लिए पैसे नहीं थे।

उनसे पूछिए कि वे गरीब क्यों हैं, तो उनका जवाब होगा कि उनके अभिभावक पर्याप्त सक्षम नहीं हैं, इसलिए। और उनके अभिभावक क्यों सक्षम नहीं हैं? क्योंकि उन्हें अच्छी शिक्षा नहीं मिली। और उन्हें अच्छी शिक्षा क्यों नहीं मिली? क्योंकि उनके पास उसके लिए पैसे नहीं थे। और उनके पास पैसे क्यों नहीं थे? क्योंकि उनके अभिभावक पर्याप्त सक्षम नहीं थे...।

यह तर्क — कि हम / हमारे अभिभावक / हमारे अभिभावकों के अभिभावक हमारी वर्तमान दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार हैं — क्या यह तर्क प्राचीन काल में धूर्त ब्राह्मणों द्वारा जाति व्यवस्था को वैध ठहराने के लिए प्रतिपादित कर्म के दर्शन जैसा नहीं है? हम यह क्यों नहीं पूछते कि इंजीनियरिंग / मैनेजमेंट / चिकित्सा की पढ़ाई इतनी महंगी क्यों हो गई है? सरकार शिक्षा पर पर्याप्त खर्च क्यों नहीं कर रही है ताकि सभी बच्चों को, चाहे उनकी आर्थिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो, अच्छी गुणवत्ता वाली और सस्ती स्कूल और कॉलेज की शिक्षा प्राप्त हो सके? इसके बजाय, सरकार शिक्षा का निजीकरण क्यों कर रही है, जिसकी वजह से स्कूल और कॉलेज की फीस आसमान छूने लगी है और अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा अमीरों के बच्चों के लिए आरक्षित हो गई है। ऐसे सवाल उठाने की बजाय हम अच्छे व्यावसायिक पाठ्यक्रम, जो हमें ठीक-ठाक नौकरी दिलवा सकते हैं, में प्रवेश पाने में असमर्थता के लिए स्वयं को/ स्वयं के भाग्य को कोसते हैं।

वैसे तो आज एक और भी सच्चाई है। आज कोई व्यक्ति जैसे-तैसे इंजीनियरिंग अथवा मैनेजमेंट कॉलेज में प्रवेश के लिए ज़रूरी फीस जुटा भी ले, तो भी अच्छी नौकरी मिलने की संभावना बहुत कम है। अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद के मुताबिक, देश में हर वर्ष तकनीकी संस्थानों से जो 8 लाख इंजीनियरिंग स्नातक उत्तीर्ण होते हैं, उनमें से 60% से ज़्यादा बेरोज़गार रहते हैं।[23] और जिन छात्रों को नौकरियां मिलती भी हैं, वे कम वेतन वाली होती हैं। इसी प्रकार से, भारतीय वाणिज्य एंव उद्योग मंडल (एसोचैम) के एक अध्ययन ने

पाया कि देश के 5,500 बिजनेस स्कूलों में से पढ़ाई कर निकलने वाले एम.बी.ए. स्नातक बड़ी संख्या में बेरोज़गार रह जाते हैं; और नौकरी मिल भी जाए, तो भी अधिकांश 10,000 रुपए मासिक से कम कमाते हैं।[24]

तीन दशक पहले यह स्थिति नहीं थी। उस समय बारहवीं पास छात्र भी ठीक-ठाक नौकरी मिलने की उम्मीद कर सकता था। तो, ज़ाहिर है कि देश की अर्थव्यवस्था में भारी बदलाव हुए हैं और यही बेरोज़गारी के संकट के लिए ज़िम्मेदार हैं। युवाओं के पास अच्छी नौकरियां नहीं हैं तो इसलिए नहीं कि वे अक्षम हैं बल्कि इसलिए कि देश की आर्थिक स्थिति बदल गई है।

मिथक 3: नौकरियां तो बहुत हैं, पर लोग काम करना नहीं चाहते। वे तो सिर्फ आराम की नौकरियां चाहते हैं।

यह वास्तव में उच्च वर्ग का प्रचार है। मजे की बात यह है कि यह बात इन्हीं वर्गों पर लागू होती है — यही वर्ग शारीरिक श्रम में अपने हाथों को गंदा करने में शर्म महसूस करते हैं।

दूसरी ओर, लाखों लोग जो काम की तलाश में गांवों से शहरों में प्रवास करते हैं, वे झुग्गी बस्तियों के भयानक हालात में रहते हैं और कठोर से कठोर तथा खतरे से भरे काम करते हैं। वे निर्माण स्थलों पर, सड़क किनारे ढाबों में, बाज़ार में हम्माल के रूप में, ऑटो रिक्शा चालकों के रूप में, या कारखानों में ठेका मज़दूर के रूप में काम करते हैं। उच्च वर्ग के लोग जो यह मानते हैं कि हमारे देश के आम लोग कठोर परिश्रम नहीं करना चाहते और इसी की वजह से बेरोज़गारी है, वे यह भूल जाते हैं कि उनके आलीशान मकान इन्हीं आम लोगों ने चिलचिलाती धूप में घंटों जीतोड़ परिश्रम करके बनाए हैं; जिस हाईवे पर उनकी एसयूवी कारें दौड़ती हैं, उन्हें इन्हीं साधारण लोगों ने खुले आसमान के तले खतरनाक हालात में बनाए हैं; उनकी डाइनिंग टेबलों पर जो भोजन परोसा जाता है, वह खेतों में किसानों की दिन-रात की मेहनत से पैदा होता है...।

मिथक 4: दलितों के लिए आरक्षण, महिलाओं का कार्य बल में प्रवेश करना और प्रवासियों द्वारा स्थानीय लोगों का काम हड़पा जाना — ये बेरोज़गारी के संकट के कारण हैं।

उच्च जातियों के कई नौजवानों को लगता है कि दलितों को मिले आरक्षण की वजह से उन्हें नौकरी नहीं मिल पाती। कई पुरुषों को लगता है कि उन्हें नौकरी नहीं मिलती क्योंकि महिलाएं नौकरी करने लगी हैं। कई लोगों को लगता है कि उन्हें नौकरी इसलिए नहीं मिल पाई है क्योंकि उनके इलाके/राज्य की नौकरियां बाहर से प्रवासियों ने हड़प ली हैं।

i. आरक्षण का सवाल

अपने सारे लोगों को समान अवसर प्रदान करने में यकीन करने वाले किसी भी

प्रजातांत्रिक व न्यायप्रिय समाज में समाज के उन तबकों को शैक्षणिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास हेतु विशेष सुविधाएं और अवसर प्रदान किए जाते हैं जिन्हें सदियों से सामाजिक और आर्थिक भेदभाव / अत्याचार का सामना करना पड़ा है। अमरीका में अल्पसंख्यकों (जैसे अफ्रीकी–अमरीकियों) और महिलाओं ने भेदभाव के जिस लंबे इतिहास का सामना किया है, उसे संबोधित करने के लिए ऐसी नीतियों पर अमल किया जाता है — इन्हें सकारात्मक कार्रवाई नीतियां कहा जाता है। भारत में इसने विभिन्न विधायिकाओं में, सरकारी नौकरियों में और उच्च शिक्षा संस्थानों में ऐतिहासिक रूप से वंचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण का रूप लिया। निसंदेह, मात्र आरक्षण दे देने से जातिगत भेदभाव समाप्त होकर जाति-मुक्त समाज अस्तित्व में नहीं आ जाएगा। लेकिन कम से कम इतना तो किया ही जाना चाहिए ताकि उन लोगों को सामाजिक व आर्थिक न्याय मिल सके जिन्हें अतीत में जानबूझकर इससे वंचित रखा गया।

पिछले कुछ दशकों में, जैसे-जैसे बेरोज़गारी का संकट गहराता गया है, उच्च जातियों के युवाओं ने दलितों व अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण के खिलाफ आंदोलन शुरू कर दिया है। वे मानने लगे हैं कि आरक्षण की वजह से ही उन्हें नौकरी नहीं मिल पाती है। यह उनकी ग़लतफ़हमी है। आरक्षण समाप्त करने से कुल उपलब्ध नौकरियों की संख्या में तो वृद्धि नहीं होगी; अधिक से अधिक इतना ही होगा कि कुछ नौकरियां जो आज दलितों को मिलती हैं, वे उच्च जातियों के युवाओं को मिल जाएंगी। लेकिन बेरोज़गारों की कुल संख्या तो उतनी ही रहेगी।

आजकल, उच्च जाति के युवाओं के बीच आरक्षण के इस विरोध ने विचित्र मोड़ ले लिया है। कई राज्यों में वर्चस्वपूर्ण जातियां, जैसे महाराष्ट्र में मराठा, हरियाणा में जाट, गुजरात में पटेल या पाटीदार, राजस्थान में गूजर और आंध्र प्रदेश में कापू स्वयं ही आरक्षण की मांग करने लगे हैं। वे मांग कर रहे हैं कि उनकी जातियों को सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में आरक्षण दिया जाए। इनके तुष्टिकरण के लिए मोदी सरकार ने 2019 की शुरुआत में संसद द्वारा संविधान में संशोधन करवाकर सामान्य वर्ग के गरीबों को नौकरियों व शिक्षा में 10% आरक्षण दे दिया। यह संवैधानिक संशोधन वास्तव में डॉ. अम्बेडकर के कहने पर संविधान में शामिल की गई आरक्षण की नीति के पीछे की भावना का उल्लंघन करता है। आरक्षण रोज़गार सृजन या गरीबी उन्मूलन का कार्यक्रम नहीं है; वह समाज द्वारा इस बात का स्वीकरण है कि उच्च जातियों ने सदियों से दलितों को अपमानित और प्रताड़ित किया है; वह इस अमानवीय भेदभाव के कारण हुए गहरे घावों को भरने की दिशा में एक कदम है; हमारे देश के संस्थापकों ने इसे जाति प्रथा को खत्म करने के कार्यक्रम के हिस्से के रूप में देखा था।

बहरहाल, सरकारी नौकरियों में 'आरक्षण के लड्डू' में हिस्सा पाने की धक्कमधक्का में, जो तथ्य अनदेखा रह जाता है वह यह है कि वास्तव में ऐसा कोई 'लड्डू' है ही नहीं। वैसे भी भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार कभी बहुत ज़्यादा नहीं था — 1990 के दशक

की शुरुआत में यह कुल रोज़गार का मात्र 5.2% था।[25] 1991 में भारत सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण और निजीकरण की शुरुआत के बाद यह 2012 में गिरकर 3.71% हो गया। यहां तक कि इन दो दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार वास्तविक अर्थों में भी गिरा है। सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण में स्वीकार किया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र का कुल रोज़गार, सरकार के हर स्तर और स्वरूप में, 1991 के 1.91 करोड़ से घटकर 2012 में 1.76 करोड़ रह गया था (तालिका 4)।[26] मोदी सरकार के कार्यकाल में निजीकरण के तेज होने के कारण इसमें और गिरावट आई होगी (यही कारण होगा कि सत्ता में आने के बाद से मोदी सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के आंकड़े जारी करना बंद कर दिया है)।[27]

तालिका 4: कुल सरकारी रोज़गार (केंद्रीय + प्रांतीय + स्थानीय सरकार + अर्ध शासकीय)

वर्ष	***कुल रोज़गार*** *(लाख में)*
1961	70.5
1981	154.8
1991	190.6
2012	176.1

जब नौकरियां ही नहीं हैं, तो फिर उच्च जातियां इनमें आरक्षण की मांग क्यों कर रही हैं? उन्हें गुमराह किया जा रहा है — कुटिल राजनीतिक नेता उनकी अज्ञानता का फायदा उठा रहे हैं।

बेरोज़गारी की स्थिति निराशाजनक है। निजी क्षेत्र में रोज़गार सृजन पूरी तरह ठप हो चुका है। एक ओर, कृषि संकट में है, जिस वजह से युवा लोग कृषि छोड़कर गैर-कृषि क्षेत्रों में नौकरियां ढूंढ रहे हैं; दूसरी ओर, मैन्यूफेक्चरिंग व सेवा क्षेत्रों में बहुत कम नौकरियां उपलब्ध हैं (जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे), और इन क्षेत्रों में जो थोड़ी बहुत नौकरियां उपलब्ध हैं वे भी असुरक्षित और ठेकेदार नौकरियां है जिनमें वेतन बहुत कम है। चतुर राजनीतिज्ञों ने इस संकट और उसके चलते युवाओं में व्याप्त असंतोष का फायदा उठाकर उन्हें जातिगत आधारों पर लामबंद करके अपनी-अपनी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग में लगा दिया है। और युवा आंखमूंद कर अपनी जाति के नेताओं के पीछे चल दिए हैं, बिना इस अहसास के कि वे एक ऐसे रास्ते पर चल रहे हैं जो कहीं पहुंचता ही नहीं है।

आरक्षण के लिए मराठा आंदोलन

आइए, पिछले कुछ वर्षों के दौरान महाराष्ट्र में मराठा युवाओं द्वारा उठाई गई आरक्षण की मांग पर एक नजर डालते हैं। इसके लिए उन्होंने लगभग 60 रैलियां निकालीं — और

हर रैली में एक से पांच लाख तक नौजवान शामिल थे। अंतत:, नवंबर 2018 में फड़नवीस के नेतृत्व में भाजपा सरकार ने विधान सभा में एक विधेयक पारित करके उनके लिए सरकारी नौकरियों में 16% आरक्षण मंज़ूर कर दिया, जिसके बाद आंदोलन मंद पड़ गया। लेकिन देखा जाए तो यह एक खोखली जीत थी। आइए समझा जाए।

महाराष्ट्र में राज्य सरकार की नौकरियों के लिए सबसे महत्वपूर्ण नियुक्तियां महाराष्ट्र लोक सेवा आयोग (MPSC) द्वारा संचालित परीक्षाओं के माध्यम से की जाती हैं। कुल जितने पदों के लिए MPSC नियुक्तियां करता है, उनकी संख्या पिछले वर्षों में लगातार कम होती गई है। 2018 में यह संख्या मात्र 69 थी। इन 69 पदों के लिए 2018 में लगभग 4 लाख युवा MPSC की परीक्षा में बैठे थे। एक अनुमान के मुताबिक राज्य की करीब 33% जनसंख्या मराठा समुदाय की है; इसलिए हम मान सकते हैं कि करीब-करीब 1.3 लाख मराठा युवा 2018 की MPSC परीक्षाओं में बैठे होंगे। यदि 2018 में 16% मराठा आरक्षण लागू रहा होता तो उस वर्ष आरक्षण के ज़रिए मराठा युवाओं को राज्य सरकार की 11 (69 का 16%) नौकरियां मिली होतीं। इसका मतलब हुआ कि 1,29,989 मराठा युवा, यानी 2018 की परीक्षाओं में बैठने वाले 99.99% से ज्यादा मराठा युवा फिर भी बेरोज़गार रह जाते। तो, सालों तक आरक्षण के लिए संघर्ष करके मराठा युवाओं को वास्तव में कुछ हासिल हुआ?

अब सुप्रीम कोर्ट ने मराठों के लिए आरक्षण पर रोक लगा दी है और मराठा युवा एक बार फिर लामबंद हो रहे हैं।

यदि मराठा युवाओं ने यह मांग उठाई होती कि केंद्र और राज्य खाली पड़े सरकारी पदों को भरने के लिए तत्काल कदम उठाएं — एक अनुमान के मुताबिक देशभर में 2019 में सरकारी नौकरीयों के करीब 60 लाख पद खाली पड़े थे (और यह भी एक बहुत ही रूढ़िवादी अनुमान है)[28] — तो सभी जातियों के युवा उनसे जुड़ जाते, बेरोज़गारी के खिलाफ देशव्यापी आंदोलन खड़ा हो गया होता, सरकार को रिक्त पदों को भरने के लिए मजबूर होना पड़ा होता और इस प्रकार वास्तव में नौकरियां पैदा हुई होतीं। युवाओं को कुछ वास्तविक लाभ प्राप्त हुए होते।

ii. महिलाओं के लिए नौकरियां

कई पुरुष आज भी महिलाओं के नौकरियों के लिए घर से बाहर जाने और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के खिलाफ हैं। उनका तर्क होता है कि इससे पुरुषों के लिए नौकरी के अवसर कम हो जाते हैं; वे यह मुद्दा भी उठाते हैं कि यदि महिलाएं घर से बाहर जाकर नौकरी करने लगेंगी तो उनके बच्चों की देखभाल और घर का काम कौन करेगा?

पहले ठोस तथ्य देखें — वे उपरोक्त दावों का पूरी तरह खंडन करते हैं। वास्तविकता यह है कि भारत में श्रम बल में महिलाओं की भागीदारी पुरुषों से आधी है, और बेरोज़गारी का संकट गहराने के साथ यह और भी कम हो गई है। 2005–18 की अवधि में जहां श्रम

बल में भागीदारी दर (एलएफपीआर) पुरुषों के लिए 56% पर स्थिर रही है, वहीं महिलाओं के लिए यह दर 2004–05 में 29% थी और 2017–18 में घटकर निराशाजनक 18% रह गई।[29]

इस तथ्य से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि उपरोक्त तर्क में एक बुनियादी समस्या है। यह एक पुरुष प्रधान मत है, जो महिलाओं की स्वतंत्रता को अनैतिक मानता है, और मानता है कि आदर्श रूप में महिलाओं की भूमिका घर की चारदीवारी में सीमित रहनी चाहिए। यह मत भारतीय संविधान द्वारा दिए गए समानता के अधिकार का उल्लंघन है। समाज में स्त्री-पुरुष समानता लाने के लिए जरूरी है कि महिलाएं घर के बाहर निकलें, नौकरी करें। जब महिला सामाजिक उत्पादन में शिरकत करती है, तभी तो वह समाज में एक स्वतंत्र पहचान बना पाती है। एक ऐसी पहचान जो किसी की मां, बहन, पत्नी, या बेटी होने से भिन्न होती है। जब महिला घर के बाहर कदम रखती है और आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाती है, तभी उसके व्यक्तित्व का विकास होता है, उसे अपनी अंतर्निहित संभावनाओं को विकसित करने की आज़ादी मिलती है, और वह बाहरी दुनिया की चुनौतियों का सामना करने का हौसला विकसित करती है।

हमारे समाज में आज भी अधिकांश महिलाएं पारिवारिक बंधनों में जकड़ी हुई हैं और घर से बाहर काम करने नहीं जातीं, जैसा कि एलएफपीआर आंकड़ों में साफ नज़र आता है। इस दुखद हकीकत का समाज के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ है। समाज महिलाओं की नैसर्गिक प्रतिभा और विकास की विपुल क्षमताओं का अपने विकास के लिए उपयोग नहीं कर पाया है। हमें महिलाओं के घर से बाहर आकर नौकरी करने तथा आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के संघर्षों में मदद करनी चाहिए। वर्तमान में उपलब्ध सीमित नौकरियों के लिए एक-दूसरे से लड़ने की बजाय हमारी मांग यह होनी चाहिए कि हमारी आर्थिक नीतियां ऐसी हों कि देश में नौकरी के इच्छुक हर पुरुष व महिला को ठीक-ठाक, सुरक्षित व अच्छे वेतन वाली नौकरी मिल पाए।

iii. प्रवासियों की घुसपैठ

प्रवासियों के खिलाफ आंदोलन कई राज्यों में हुए हैं — इनमें कर्नाटक, पंजाब, राजस्थान और कई उत्तर-पूर्वी राज्य शामिल हैं। इन आंदोलनों की मांग होती है कि नौकरियां स्थानीय लोगों के लिए आरक्षित की जाएं और प्रवासियों को अपने मूल राज्य लौट जाने को कहा जाता है। महाराष्ट्र में शिव सेना और महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना समय-समय पर प्रवासियों, खासकर बिहार व उत्तर प्रदेश के प्रवासियों, के खिलाफ आंदोलन आयोजित करती रही हैं। इनकी वजह से महाराष्ट्र में प्रवासी कामगार परदेशी द्वेष, पूर्वाग्रह और हिंसा के शिकार हुए हैं।

जो बात अधिकांश लोग नहीं जानते, वह यह है कि बड़े शहरों में अधिकांश प्रवासी 'बाहरी' लोग नहीं हैं बल्कि उसी राज्य के अन्य इलाकों के लोग हैं। यह तथ्य भारतीय

जनगणना के प्रवास सम्बंधी आंकड़ों से उभरता है। 2011 की जनगणना के मुताबिक भारत में प्रवासी जनसंख्या (45.36 करोड़) देश की जनसंख्या की तुलना में ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती रही है। इस वजह से प्रवासी लोग देश की 121.03 करोड़ आबादी में से 37.8% हैं।[30] दूसरे शब्दों में, हर तीसरा भारतीय प्रवासी है। लेकिन इनमें से अधिकांश राज्य-अंतर्गत प्रवासी हैं; अंतर-राज्य प्रवास (4.36 करोड़) घटकर कुल जनसंख्या का 3.6% रह गया है, जो 2001 में 4% था।[31] उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों पर आधारित एक अध्ययन में पाया गया कि मुंबई में 70% से ज़्यादा प्रवासी महाराष्ट्र के ही ग्रामीण व शहरी इलाकों से आए हैं।[32]

हमें इस बात को सहानुभूतिपूर्वक समझना होगा कि लोग नौकरी की तलाश में इतनी दूर-दूर, प्राय: अपने प्रियजनों को पीछे छोड़कर, क्यों प्रवास करते हैं। प्रवास का मुख्य कारण असमान विकास है। देश में आज लागू किए जा रहे विकास के मॉडल, जिसे पूंजीवाद कहते हैं, में ज़्यादा विकसित इलाके अपेक्षाकृत पिछड़े इलाकों की तुलना में ज़्यादा तेज़ी से विकास करते हैं क्योंकि उद्योगपति और निवेशक ज़्यादा विकसित इलाकों में निवेश करना ज़्यादा पसंद करते हैं क्योंकि वहां लागतें कम होती हैं और बाज़ार अधिक विकसित होता है। नतीजतन, अधिक विकसित इलाकों में ज़्यादा नौकरियों का सृजन होता है। लिहाज़ा यदि दिल्ली, मुंबई और चेन्नै, या दक्षिणी राज्यों और पंजाब, जैसे देश के ज़्यादा विकसित शहरों / भागों में ज़्यादा नौकरियां उपलब्ध हैं, तो ऐसा इसलिए नहीं है कि पिछड़े इलाकों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा इन शहरों में रहने वाले लोग ज़्यादा मेहनती या सक्षम हैं। यह हमारे देश में लागू विकास के मॉडल का नतीजा है। अत: ज़्यादा विकसित इलाकों में रहने वाले लोगों को इन नौकरियों में प्राथमिकता नहीं मिलनी चाहिए; पिछड़े इलाकों के लोगों का भी इन पर बराबर का अधिकार होना चाहिए।

मिथक 5: देश में विदेशी प्रवासियों की बाढ़ आ गई है।

और अब, भाजपा ने विदेशी प्रवासियों, खास तौर से बांग्लादेश से मुस्लिम प्रवासियों, के सैलाब का शिगूफा छोड़ दिया है। एक प्रमुख राजनेता ने तो उनकी तुलना 'दीमक' से कर दी है। ऐसी अफवाहें फैलाने के बाद, सत्ताधारी फासीवादी शासन सारे अवैध प्रवासियों को ढूंढने के लिए एक अखिल भारतीय अभियान की योजना बना रहा है (पहले एक राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर और उसके आधार पर राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर बनाकर), और उसके बाद उन्हें डिटेंशन केंद्रों में कैद कर दिया जाएगा, और उसके बाद ... (शायद वे अपना शेष जीवन वहीं बिताएंगे क्योंकि बांग्लादेश उन्हें वापिस नहीं लेगा क्योंकि बांग्लादेश के साथ भारत की कोई निर्वासन संधि नहीं है)। लेकिन इस पूरी बहस में से भारत में अवैध प्रवासियों की संख्या का आंकड़ा नदारद रहा है।

अब आंकड़े उपलब्ध हैं। जनगणना 2011 के बहु-प्रतिक्षित आंकड़े अभी हाल ही में जारी किए गए हैं और वे दर्शाते हैं कि यह कहानी झूठी है।

2011 की जनगणना के आंकड़ों के मुताबिक भारत में आप्रवासियों की संख्या (इस आधार पर कि जिन लोगों ने अपना आखरी निवास देश के बाहर बताया है) 55 लाख थी। इनमें से 23 लाख (42%) बांग्लादेश से और 7 लाख (12.7%) पाकिस्तान से आए थे।

इसका मतलब है कि भारत में आप्रवासियों की कुल संख्या देश की कुल जनसंख्या (2011 में 121 करोड़) का 0.5% से भी कम है! और, ये सबके सब अवैध नहीं हैं; इन आप्रवासियों की एक बड़ी संख्या वैध है।

यदि यह तर्क भी दिया जाए कि ये आंकड़े देश में अवैध विदेशी आप्रवासियों की वास्तविक संख्या को कम आंकते हैं, तो भी जनगणना के आंकड़ों का विश्लेषण अवैध आप्रवासी बांग्लादेशियों की बढ़ती संख्या के सारे दावों को पूरी तरह खारिज कर देता है।

- बांग्लादेश से प्रवासियों की संख्या घट रही है। अंतिम निवास के स्थान के आधार पर यह संख्या 2001 में 31 लाख थी और घटकर 2011 में 23 लाख रह गई।
- इस गिरावट का एक कारण तो बूढ़े प्रवासियों की मृत्यु होगा जो दशकों पहले भारत में आए थे। लेकिन जनगणना के आंकड़े यह भी दर्शाते हैं कि भारत में प्रवास करने वाले बांग्लादेशियों की कुल संख्या पिछले वर्षों में घटी है। 2011 में भारत में जो कुल 23 लाख बांग्लादेशी आप्रवासी थे (अंतिम निवास स्थान के आधार पर), उनमें से 76% (17.6 लाख) 1991 से पहले आए थे; 2.7 लाख 1992–2001 के दशक में आए थे; और 2002–2011 के दशक में यह संख्या और कम होकर 1.7 लाख रह गई थी। हो सकता है कि इन आंकड़ों में थोड़ी कम रिपोर्टिंग हुई हो, लेकिन यह कम रिपोर्टिंग 2001 व 2011 में एक जैसी ही होगी।
- उपरोक्त तथ्य बांग्लादेश से प्राप्त अधिकारिक उत्प्रवास के आंकड़ों से भी मेल खाते हैं। ये आंकड़े दर्शाते हैं कि बांग्लादेशियों की बढ़ती संख्या भारत की अपेक्षा खाड़ी के देशों और यूरोप में प्रवास करना पसंद कर रही है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि बांग्लादेश के मानव विकास सूचकांक भारत से बेहतर हैं।[33]

बांग्लादेश के प्रवासियों की यह अल्प संख्या और पिछले वर्षों में इस संख्या के कम होते जाने से यह स्पष्ट है कि भारत में अदस्तावेज़ीकृत/ अवैध बांग्लादेशी आप्रवासियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होगी — अधिक से अधिक कुछ लाख यानी देश की जनसंख्या का 0.2% से भी कम।

फिर भी, दक्षिणपंथी ब्रिगेड द्वारा किए गए प्रचार के चलते अवैध-बांग्लादेशी-आप्रवासी-विरोधी कोलाहल ने देश को जकड़ लिया है। एक दशक से भी अधिक समय से यह आंकड़ा उछाला जा रहा है कि 2 करोड़ से ज़्यादा बांग्लादेशी भारत में अवैध रूप से घुस गए हैं। यह आंकड़ा भारत सरकार द्वारा राज्य सभा में 2016 में एक प्रश्न के जवाब में पेश किया गया था। यही आंकड़ा सोशल मीडिया पर घूम रहा है। लेकिन इसका कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है।

चंद लाख गरीब, हताश आप्रवासियों के भारत में आप्रवास से डरने का कोई कारण नहीं है, जो बेहतर जीवन की तलाश में देश में आए हैं। देश में इतना आत्मविश्वास होना चाहिए कि इनसे खतरा महसूस न करे, बल्कि उदारता दिखाते हुए इन्हें आत्मसात कर लेना चाहिए और धीरे-धीरे इन्हें नागरिकता प्रदान कर देनी चाहिए। जो देश खुद को दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र कहता है, उससे यही अपेक्षा की जाती है।

इसकी बजाय, सत्ताधारी भाजपा बहुसंख्य हिंदू समुदाय के मन में यह डर बैठा रही है कि देश में पड़ोसी राष्ट्रों से मुस्लिम आप्रवासियों की बाढ़-सी आ रही है, और हमें उन्हें पहचानकर नाज़ी नज़रबंदी-शिविरों जैसे डिटेंशन शिविरों में भेज देना चाहिए। यह बांटो और राज करो की ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति के समान है — अर्थव्यवस्था में मंदी और गहराते बेरोज़गारी संकट से लोगों का ध्यान हटाने के लिए।

झूठा प्रचार

वर्चस्वपूर्ण जातियां सरकारी नौकरियों में आरक्षण के लिए क्यों संघर्ष कर रही हैं, या क्यों पुरुषों को लगता है कि महिलाएं उनकी नौकरियां हड़प रही हैं, या क्यों स्थानीय लोगों के लिए आरक्षण की मांग की जा रही है, या क्यों लोग विदेशी आप्रवासियों को लेकर उग्र हो रहे हैं — इसका वास्तविक कारण यह है कि नौकरियों की भयंकर कमी है। तालिका 1 में देखा जा सकता है कि एक ओर तो हर साल लाखों युवा (लगभग 90 लाख युवा हर वर्ष श्रम बल में प्रवेश करते हैं)[34] नौकरी के बाज़ार में प्रवेश कर रहे हैं, वहीं सरकारी आंकड़े स्वीकार करते हैं कि देश में रोज़गारशुदा लोगों की कुल संख्या 2010–11 से 2017–18 की अवधि में घटी है।

यानी एक ओर तो कुल रोज़गार नहीं बढ़ रहा है। वहीं दूसरी ओर, जो थोड़ी-सी नौकरियां उपलब्ध हैं, उनमें से भी अधिकांश अनौपचारिक या संविदा (ठेकेदारी) नौकरियां हैं, जिनमें कोई सुरक्षा या कानूनी अधिकार नहीं होते। (इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।)

अधिकांश युवा देश में रोज़गार संकट की गंभीरता से वाकिफ नहीं हैं। इसका सीधा-सा कारण यह है कि देश में नौकरियों के घोर अभाव के बारे में तथ्य मीडिया द्वारा प्रचारित नहीं किए जाते हैं। लोगों के अज्ञान का फायदा उठाकर कपटी नेता युवाओं को बरगलाने में सफल हो जाते हैं कि 'दूसरे लोगों' ने उनकी नौकरियां छीन ली हैं। यही कारण है कि ये लोग आप्रवासियों पर हमले करते हैं या 'आरक्षण' के लिए लाखों की संख्या में उठ खड़े होते हैं।

'दूसरों' से लड़ने या अपनी जाति या 'धर्म' के लोगों के लिए 'आरक्षण' की मांग करने की बजाय हमें धर्म व जाति व क्षेत्र से परे जाकर एकजुट होकर अधिक नौकरियों की मांग करनी चाहिए। लेकिन उसके लिए हमें यह समझना होगा कि नौकरियों क्यों नहीं हैं। तभी हम ठोस मांगें उठा सकते हैं जो वास्तव में बेरोज़गारी संकट का एक हद तक निवारण कर सकती हैं।

3. बेरोज़गारी के वास्तविक कारण

1. सामंतवाद बनाम पूंजीवाद

हम अपने आसपास बेरोज़गारी देखने के इतने आदी हो गए हैं, बेरोज़गारी इतनी व्याप्त है, कि हमें लगता है कि बेरोज़गारी सदा से रही है। लेकिन ऐसा नहीं है। बेरोज़गारी पूंजीवाद का परिणाम है। वह मध्य युग में नहीं थी। उस समय की सामाजिक व्यवस्था, यानी वह कानूनी-सैन्य-शासन तंत्र जिसके चारों ओर समाज संगठित था, को सामंतवाद के नाम से जाना जाता है। सामंती समाज में गरीबी, वंचना और शोषण तो होते हैं, लेकिन बेरोज़गारी नहीं होती। बेरोज़गारी पूंजीवाद के जन्म के बाद ही प्रकट होती है। तो चलिए, सामंतवाद और पूंजीवाद पर एक नज़र डालकर यह समझने का प्रयास करते हैं कि क्यों बेरोज़गारी पूंजीवाद का अपरिहार्य नतीजा है।

सामंतवाद पश्चिमी यूरोप और भारत व चीन जैसे एशियाई देशों दोनों जगह मौजूद था। हालांकि पश्चिमी यूरोप और भारत में सामंतवाद का बाहरी स्वरूप अलग-अलग था, जैसे भारत में इसने जाति का रूप ले लिया, लेकिन इसके मूल तत्व, जैसे ऊंच-नीच और जन्म के आधार पर विशेषाधिकार, दोनों जगहों पर एक जैसे थे। आगे की हमारी चर्चा पश्चिमी यूरोप के सामंतवाद और पूंजीवाद पर आधारित है, क्योंकि वहीं पर पूंजीवाद सामंतवाद के भीतर से उभरा था, और अंततः उसने सामंती व्यवस्था को उखाड़ फेंका और पूरी तरह विकसित हुआ।

सामंती समाज पदानुक्रमित या पिरामिडनुमा समाज होता है, जिसमें राजा सबसे ऊपर होता है और किसानों का हुजूम सबसे निचले स्तर पर। यूरोप के सामंतवाद में राजा सारी ज़मीन का मालिक होता था। वह यह ज़मीन प्रमुख जागीरदारों को आवंटित कर देता था (इन अनुदानों को जागीर कहते थे)। इन जागीरदारों को सामान्यतः लॉर्ड या बैरन कहा जाता था। इसके एवज में वे राजा के प्रति वफादारी की शपथ लेते थे और उसे कुछ रकम (या अपनी जागीर से वसूले गए कर का एक हिस्सा) देने पर राज़ी होते थे। इसके अलावा वे राजा की फौज में सिपाही भी उपलब्ध कराते थे। राजा चर्च को भी भूमि-अनुदान देता था ताकि बदले में वह उसके राज को समर्थन दे। किसान इस पिरामिड के पेंदे में थे; लॉर्ड अपनी ज़मीन का कुछ हिस्सा किसानों को देता था, जिसके बदले में उन्हें कुछ दिन लॉर्ड की ज़मीन पर काम करना होता था या/ और उनको दी गई ज़मीन के उत्पाद का एक हिस्सा लॉर्ड को देना होता था। किसान लॉर्ड के महल के आसपास स्थित गांवों में रहते थे। वे आमतौर पर स्वतंत्र नहीं होते थे बल्कि ज़मीन से बंधे होते थे। इन बंधुओं किसानों को सर्फ यानी भूदास भी कहते थे। खेतों में काम करने के अलावा, वे पशुओं की देखभाल, इमारतों की मरम्मत करने, कपड़े सिलने तथा लॉर्ड द्वारा दिए गए सारे शारीरिक मेहनत के काम भी करते थे। किसानों के अलावा, गांव में लोहार, अनाज कूटने वाले और सुतार जैसे

दस्तकार भी होते थे; इनमें से अधिकांश उनके गांव के लॉर्ड के दास होते थे।

सामंती युग में शहर बहुत ही कम थे। शहरों में उस्ताद शिल्पी और उसके सहायकों द्वारा किया जाता था। ये सहायक भी देहातों के भूदासों के समान स्वतंत्र नहीं होते थे। प्रत्येक शिल्पी अपने औज़ारों का मालिक होता था। शिल्पी शिल्पिसंघों (गिल्ड्स) के रूप में संगठित थे। सिर्फ गिल्ड के सदस्य ही उस इलाके में चीज़ें बना व बेच सकते थे। शिल्पिसंघ इस बाबत भी सीमा तय करते थे कि प्रत्येक शिल्पी सदस्य कितना उत्पादन कर सकता है, ताकि प्रतिस्पर्धा को सीमित किया जा सके।

कुल मिलाकर, सामंती व्यवस्था में सामाजिक व आर्थिक जीवन पर कृषि का वर्चस्व था और उत्पादन तात्कालिक स्थानीय ज़रूरतों की पूर्ति के लिए होता था (जिसमें स्थानीय सामंती ज़मींदार की ज़रूरतें भी शामिल होती थीं)। व्यापार सीमित था और चलन में मुद्रा की मात्रा बहुत कम थी। जहां तक बेरोज़गारी का सवाल है, हालांकि मेहनतकश लोग यानी गांवों में भूदास और शहरों में उस्ताद शिल्पी के सहायक स्वतंत्र नहीं थे, लेकिन उन्हें बेरोज़गारी का सामना नहीं करना पड़ता था; मध्य युग में यह शब्द ही अनजाना था।

पश्चिमी यूरोप में सामंती व्यवस्था की दरारों में पूंजीवाद के विकास ने धीरे-धीरे सामंती व्यवस्था में सेंध लगाई। अंतत: सामंती व्यवस्था को ध्वस्त करके पूंजीवाद ने उसकी जगह ले ली। यह लंबा व पेचीदा ऐतिहासिक विकास कई सदियों में सम्पन्न हुआ। इसकी चर्चा वर्तमान आलेख के दायरे में नहीं है।[35]

गैर-स्वतंत्र मज़दूर और प्रतिस्पर्धा-हीनता जैसे लक्षणों वाली सामंती व्यवस्था के विपरीत, पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषता स्वतंत्र मज़दूर तथा तीव्र प्रतिस्पर्धा है। पूंजीवाद में उत्पादन का उद्देश्य स्थानीय जरूरतों को पूरा करने के बदले मुनाफा अधिकतम करना हो जाता है। पूंजी के मालिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए सैकड़ों-हज़ारों स्वतंत्र मज़दूरों को काम पर रखते हैं, और फिर इन वस्तुओं को बाज़ार में बेचने और मुनाफा कमाने के लिए आपस में तीव्र प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसका एक अपरिहार्य सह-उत्पाद होता है बेरोज़गारी। आइए, इसे थोड़ा विस्तार में देखते हैं।

2. पूंजीवाद और बेरोज़गारी

पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी के अलग-अलग मालिक अपना पैसा किसी कारोबार में (यह कारोबार कारखाना उत्पादन से लेकर कृषि और व्यापार तक हो सकता है, या फिर कोई निजी स्कूल या अस्पताल हो सकता है, और यहां तक कि स्टॉक मार्केट में निवेश करने जैसा सट्टा भी हो सकता है) लगाते हैं ताकि मुनाफा कमा सकें, और फिर मूल पूंजी और मुनाफे (अपना उपभोग घटाकर) को पुन: निवेशित करके और मुनाफा कमाते हैं। यह चक्र चलता रहता है।

पूंजीवाद में उत्पादन का एकमात्र उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है। मुनाफा, ज़्यादा मुनाफा, अधिकतम संभव मुनाफा। पूंजीवाद के अंतर्गत उत्पादन का उद्देश्य सामाजिक

ज़रूरतों की पूर्ति नहीं, बल्कि मुनाफे को अधिकतम करना होता है। जैसे, स्वास्थ्य सेवा में किसी पूंजीपति द्वारा निवेश का उद्देश्य यह नहीं होता कि यह सेवा सब लोगों को वहनीय दामों पर उपलब्ध हो जाए, बल्कि अपना मुनाफा अधिक से अधिक करने का होता है। इसके चलते स्वास्थ्य सेवा गरीबों की पहुंच से बाहर हो जाए, तो उनकी बला से। इसी प्रकार से, शिक्षा में निवेश करने वालों का उद्देश्य सब बच्चों को मुफ्त और अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराना नहीं बल्कि मुनाफा अधिकतम करना होता है, चाहे भारी-भरकम फीस की वजह से लाखों बच्चे स्कूल/कॉलेज में न पहुंच पाएं और चाहे इसका प्रतिकूल असर स्वयं मानव समाज के विकास पर हो। पूंजीपतियों को खाद्यान्न का कृत्रिम अभाव पैदा करके खाद्यान्न की कीमतों को बढ़ाकर सुपर-मुनाफा कमाने में कोई गुरेज़ नहीं होता, इसके कारण लोग भूख से मरते हैं, तो मर जाएं; सुपर-मुनाफा कमाने के लिए उन्हें अवैध मादक द्रव्य बनाने और बेचने से कोई परहेज़ नहीं होता, चाहे इस चक्कर में समूचा समाज तबाह हो जाए; उन्हें सामूहिक विनाश के हथियारों के उत्पादन और बिक्री से कोई ऐतराज़ नहीं होता, चाहे ये नरसंहार के कारण बन जाएं।

इसका दूसरा पहलू यह है कि पूंजीपतियों का रोज़गार सृजन से कोई सरोकार नहीं होता। पूंजीवादी व्यवस्था के तहत जितनी भी नौकरियां निर्मित होती हैं, वे मुनाफा संचय, जो कि पूंजीवाद की चालक शक्ति है, का सह-उत्पाद होती हैं। इसे समझने के लिए हमें पूंजीवाद के अर्थशास्त्र पर थोड़े और विस्तार से चर्चा करनी होगी।

मान लीजिए कोई पूंजीपति कारखाना बनाने, कच्चा माल खरीदने, मज़दूरों को काम पर रखने के लिए धन M का निवेश करता है। यह सब वह वस्तु C के उत्पादन के लिए करता है। इसे वह बाज़ार में M1 राशि में बेचता है जो यकीनन उत्पादन लागत M से अधिक होती है। इनके बीच का अंतर (M1–M) उसका मुनाफा है। इस मुनाफे के कुछ हिस्से का वह उपभोग कर लेता है, लेकिन बड़ा हिस्सा उत्पादन में पुन: निवेश कर दिया जाता है। चूंकि कुल निवेश बढ़ गया है, इसलिए उत्पादित वस्तु की मात्रा भी बढ़ जाएगी। इस बढ़ी हुई मात्रा को वह बाज़ार में बेचकर और अधिक मुनाफा कमाता है। M–C–M1 बदलकर अब M1–C–M2 और फिर M2–C–M3 होता जाता है।[36] पूंजीवाद में 'पर्याप्त मुनाफा' जैसी कोई चीज़ नहीं होती।

पूंजीपति बाज़ार में अकेला नहीं होता। और भी कई पूंजीपति होते हैं, जो वही या लगभग उस जैसी वस्तु का उत्पादन कर रहे होते हैं। लिहाज़ा अपनी वस्तु को बाज़ार में बेचने के लिए उसे प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। यदि वह अपनी वस्तु को बेच नहीं पाता, तो उत्पादन में उसका निवेश अटक जाता है और दिवालिया होने का खतरा पैदा हो जाता है।

विभिन्न पूंजीपतियों के बीच जारी इस गलाकाटू प्रतिस्पर्धा में सबके सब अपने प्रतिस्पर्धी को परास्त करने के लिए उत्पादन की लागत कम करने की कोशिश करते हैं। और इसलिए वे कम से कम संख्या में मज़दूर नियुक्त करते हैं, उनसे ज़्यादा घंटे काम करवाते हैं और उनके काम की कार्यकुशलता और तीव्रता बढ़ाने की कोशिश करते हैं,

ताकि मज़दूरों को कम से कम भुगतान करके उनसे अधिक से अधिक उत्पादन करवा सकें।

गलाकाट प्रतिस्पर्धा के चलते पूंजीपति विवश हो जाता है कि वह मशीनीकरण करे और अपने कारखाने में पुरानी मशीनों की जगह नवीनतम उपलब्ध मशीनें लगाए। इससे उसे मज़दूरों की उत्पादकता बढ़ाने में मदद मिलती है। नई मशीनें उसे मज़दूरों की छंटनी करने का भी मौका देती हैं और इस प्रकार वह कम मज़दूरों के साथ उत्पादन बढ़ाने में सफल हो पाता है। जो पूंजीपति नवीनतम टेक्नॉलॉजी को उपयोग में नहीं ला पाते, वे प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं और अंतत: उनके कारखाने बंद हो जाते हैं। वहीं, कम से कम मज़दूरों के साथ उत्पादन बढ़ाने में सफल पूंजीपति प्रतिस्पर्धा में टिके रहने में सफल होते हैं और बड़े से और बड़े, अमीर से और अमीर होते जाते हैं।

पिछली तीन शताब्दियों में, पूंजीवादी व्यवस्था का असाधारण विकास हुआ है और उत्पादन में विपुल वृद्धि हुई है। पूंजीवाद के विस्तार के साथ नवीन कारखानों की स्थापना होती है और उनमें नई नौकरियां पैदा होती हैं। लेकिन इस विस्तार के साथ नई-नई टेक्नॉलॉजी भी आती है जिसके कारण मज़दूर काम से हटाए भी जाते हैं। इसलिए, पूंजीवाद के विस्तार से बेरोज़गारों की संख्या में कमी होना जरूरी नहीं है।

पूंजीवादी व्यवस्था के इस अंतर्निहित तर्क का परिणाम यह है अठारहवीं शताब्दी के बाद पूंजीवादी व्यवस्था के बड़े पैमाने पर विस्तार के साथ उत्पादन में हुई भारी वृद्धि और पूंजीपतियों की संपत्ति में भारी वृद्धि से श्रमिकों को कोई लाभ नहीं हुआ है। भले ही सबसे बड़े पूंजीपति अरबपति बन गए हों, फिर भी वे कम से कम संख्या में श्रमिकों को नियुक्त करते हैं और उन्हें न्यूनतम संभव वेतन देते हैं। लिहाज़ा, बेरोज़गारी और गरीबी पूंजीवाद के अपरिहार्य नतीजे हैं; पूंजीवादी व्यवस्था तो रोज़गार के सृजन और मज़दूरों के साथ संपदा के बंटवारे के लिए बनी ही नहीं है।

दरअसल, सच्चाई तो यह है कि बेरोज़गारी का होना पूंजीवादी मुनाफाखोरी के लिए फायदेमंद है। पूंजीपति बेरोज़गार कामगारों की बड़ी तादाद का फायदा उठाकर अपने कारखानों में नियुक्त मज़दूरों का वेतन कम कर देते हैं, और काम के घंटे और काम की तीव्रता बढ़ा देते हैं। यदि मज़दूर विरोध करते हैं, बेहतर वेतन और बेहतर कार्य परिस्थितियों की मांग को लेकर हड़ताल पर जाते हैं, तो उन्हें काम से हटाया जा सकता है और उनके बदले बेरोज़गारों को नियुक्त किया जा सकता है जो और भी कम वेतन पर काम करने को तत्पर होते हैं। इसीलिए बेरोज़गार श्रमिकों की इस विशाल संख्या को 'श्रम की आरक्षित सेना' भी कहा गया है — पूंजीपति इसका उपयोग मज़दूरों को बांटने और काम पर लगे मज़दूरों का वेतन कम रखने के लिए करते हैं।

पूंजीवाद: असमान विकास की व्यवस्था

अर्थात, पूंजीवाद असमान विकास की प्रणाली है। पूंजीवादी विकास के साथ अमीरों और गरीबों के बीच एक विशाल खाई अनिवार्य रूप से पैदा होती है। एक छोर पर पूंजीपति

होते हैं, जिनकी संपदा लगातार बढ़ती है। और दूसरे छोर पर घोर गरीबी में जीता मज़दूरों का हुजूम होता है। जो लोग नौकरी पाने में सफल होते हैं, वे बमुश्किल निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन पर काम करते हैं, और उनके सिर पर छंटनी की तलवार हमेशा लटकती रहती है। उनके बगल में कंगाली में जी रहे बेरोज़गारों की एक विशाल फौज होती है, जो किसी भी वेतन पर काम करने को तत्पर होते हैं।

अठारहवीं सदी के मध्य में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के एक सदी के बाद पश्चिमी यूरोप में ऐसे ही हालात थे। कुछेक दशकों में ही उत्पादन कई गुना बढ़ गया। मसलन, ब्रिटेन में, जहां औद्योगिक क्रांति सबसे पहले फूटी थी, सूती कपड़ा उद्योग (जहां औद्योगिक क्रांति की सबसे पहले शुरुआत हुई थी) में कपड़ा उत्पादन 1785 के 4 करोड़ गज़ से बढ़कर 1850 में 20.25 करोड़ गज़ हो गया। उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में औद्योगिक क्रांति को ज़ोरदार बढ़ावा देने वाला प्रमुख नवाचार रेल्वे था। 1820 के दशक में जब रेल्वे को तकनीकी रूप से संभव और मुनाफादायक सिद्ध कर दिया गया, तब रेल्वे निर्माण को पंख लग गए। 1830 में दुनिया भर में चंद दर्जन किलोमीटर रेल लाइनें थीं। 1850 आते-आते इनकी लंबाई 37,800 किलोमीटर हो चुकी थी। रेल्वे के तेज़ विकास ने कोयले, लोहे और स्टील की ज़बरदस्त मांग पैदा की। 1830–50 के दो दशक की अवधि में ब्रिटेन में कोयले और लोहे, दोनों का उत्पादन तिगुना हो गया था।[37]

लेकिन उत्पादन में इस विशाल वृद्धि का मज़दूरों को कोई फायदा नहीं मिला। बेरोज़गारी व्याप्त थी; एक उम्दा अध्ययन के मुताबिक, लगभग सारे उत्पादन क्षेत्रों में, एक-तिहाई हाथों को पूरा रोज़गार मिलता था, एक-तिहाई हाथों को आंशिक रोज़मार मिलता था और एक-तिहाई हाथ साल भर बेरोज़गार रहते थे। भारी बेरोज़गारी की वजह से वेतन बहुत कम थे। श्रमिकों की विशाल आरक्षित सेना का लाभ उठाते हुए, नियोक्ताओं ने कारखानों में काम के घंटों को बढ़ाकर 14, 16 और यहां तक कि 18 घंटे भी कर दिए। काम की तीव्रता बढ़ी, जिसकी वजह से औद्योगिक दुर्घटनाओं में वृद्धि हुई, लेकिन मज़दूरों को मुआवज़े की कोई व्यवस्था नहीं थी। मज़दूर भायनक हालात में जीते थे। इसकी वजह से टायफस और हैज़ा जैसे संक्रामक रोगों की महामारियां यूरोप पर कहर बनकर तबाही मचाती थीं। लेकिन मज़दूरों को कोई अस्वस्थता अवकाश नहीं मिलता था, इसलिए उन्हें गरीबी के चलते अस्वस्थ होने के बावजूद मजबूरन काम करना पड़ता था। बाल श्रम व्यापक रूप से प्रचलित था; यहां तक कि पांच साल के बच्चे भी कारखानों और खदानों में बारह-बारह या उससे भी ज़्यादा घंटे काम करते थे, जिसकी वजह से उनके हाथ-पैर अपाहिज़ हो जाते थे और पीठ बेडौल हो जाती थी।[38]

ऐसे में, आज पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका (यूएसए) में मज़दूरों की बेहतर कार्य परिस्थितियों की व्याख्या क्या है? इन्हें पूंजीपति वर्गों ने, अमीर हो जाने पर, किसी उदारता के कारण नहीं दिया है। इन्हें मज़दूर वर्ग ने लंबे व तीखे संघर्ष के बल पर जीता है। मज़दूरों ने पहली रियायतें तो उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही हासिल कर ली थीं। प्रथम विश्व

युद्ध से पूर्व के वर्षों में कुछ और महत्वपूर्ण कल्याणकारी उपाय जीते गए, और फिर 1930 के दशक में महामंदी के दौरान और भी रियायतें हासिल की गईं। कल्याणकारी राज्य में सबसे ज़्यादा विस्तार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के प्रथम दो दशकों में हुआ, जब सशक्त जन आंदोलनों — जैसे कि यूएसए में नागरिक अधिकार आंदोलन और वियतनाम युद्ध विरोधी आंदोलन — तथा सोवियत संघ में वैकल्पिक, गैर-पूंजीवादी व्यवस्था के उदय से डरकर पूंजीपतियों ने बड़े कल्याणकारी लाभ देना स्वीकार किया। गौरतलब है कि सोवियत संघ ने अपने लोगों के लिए व्यापक कल्याणकारी उपाय स्थापित किए थे।[39]

3. पूंजीवाद और उपनिवेशवाद

पश्चिमी यूरोप और यूएसए (जिन्हें विकसित देश या पश्चिमी देश भी कहते हैं) में औद्योगिक क्रांति, पूंजीवाद के विकास और इन इलाकों के पूंजीपतियों द्वारा संपदा के संचय की कीमत सिर्फ इन देशों के मज़दूरों ने नहीं चुकाई थी, बल्कि अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और एशिया के लोगों ने भी वहन की थी। कैसे?

पूंजीवाद शुरू से ही एक वैश्विक व्यवस्था रहा है। मुनाफा संचित करने की लालसा पूंजीवाद का मूल तत्व है। पूंजीवाद की शुरुआत से ही, पूंजीपति इस संचय की प्रक्रिया में अन्य देशों के संसाधनों का दोहन करने के लिए अति-तत्पर रहे हैं। दरअसल, इतिहासकार पूंजीवाद की उत्पत्ति की जड़ें 15वीं सदी के अंत में कोलंबस व अन्य लोगों की समुद्री यात्राओं में देखते हैं, जिन्होंने अमरीकी महाद्वीप को यूरोप के लोगों की लूट-खसोट के लिए खोल दिया था।

इसके साथ ही 400 वर्षों की बर्बर लूट का इतिहास शुरू हुआ, जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। अपने हथियारों की श्रेष्ठता के दम पर युरोपीय लोगों ने अमरीकी महाद्वीप को फतह किया और उस इलाके के सोने व चांदी को जी भरकर लूटा। एक अनुमान के मुताबिक, करीब 1500 ईस्वीं से लेकर 1800 ईस्वीं तक के 300 सालों में उन्होंने लैटिन अमेरिका की खदानों से डेढ़ लाख टन से ज़्यादा सोना व चांदी लूटा (गणना के लिए चांदी की तुलना में सोने की सापेक्ष कीमत का उपयोग करके सोने और चांदी को एक इकाई में परिवर्तित कर दिया गया है)। यह इस अवधि में इन कीमती धातुओं के वैश्विक उत्पादन का 80% से अधिक था।[40] लोभ के इस तूफान की कीमत इस इलाके के देशज लोगों ने चुकाई — उनका जनसंहार कर दिया गया। युरोपीय लोगों ने देशज लोगों पर नृशंस अत्याचार किए — पूरे के पूरे शहर भस्म कर दिए, मनोरंजन के उद्देश्य से बंदी देशज लोगों के सिर और महिलाओं के स्तन काटे गए, उनके शिशुओं को कुत्तों को खिला दिया गया ...। युरोपीय लोगों के खनन के तौर-तरीके इतने जानलेवा थे कि जिन देशज लोगों को दक्षिण अमेरिका की चांदी की खदानों में काम करने को मजबूर किया जाता था, उनकी जीवन प्रत्याशा लगभग उतनी ही थी जितनी ऑशविट्ज़ मृत्यु शिविर[41] में मजबूर मज़दूरों की थी — 3–4 माह। अनुमान लगाया गया है कि 1492 में कोलंबस की यात्रा से पहले इस इलाके

की जनसंख्या 7 से 10 करोड़ के बीच थी; डेढ़ सदी बाद यह घटकर 35 लाख रह गई थी।[42]

देशज लैटिन अमरीकी आबादी के सफाए के बाद, युरोपीय लोगों ने पश्चिमी अफ्रीका के तट पर धावे बोलना शुरू किया। यहां से लोगों को पकड़कर जहाज़ से लैटिन अमेरिका में गुलामों के रूप में काम करने को ले जाया गया — पहले खदानों में, और जब खदानें समाप्त हो गईं तो शकर, कॉफी और कोको के बागानों में जो युरोपीय लोगों ने वहां की उपजाऊ भूमि पर स्थापित किए थे। जैसे-जैसे बागानों का विस्तार हुआ, अफ्रीका से लैटिन अमेरिका ले जाए गए गुलामों की संख्या भी तेज़ी से बढ़ी। यह गुलाम व्यापार 16वीं सदी में शुरू हुआ और करीब 400 सालों तक जारी रहा। एक अनुमान है कि इस अवधि में अमरीकी महाद्वीप के बागानों में काम करने के लिए बंदी बनाए गए अफ्रीकियों में से कम से कम 1.2 से 1.5 करोड़ लोग इस जबरन प्रवास की तकलीफों को झेलने के बाद जीवित बचे; गुलाम बनाने के दौरान और जबरन अटलांटिक पार के प्रवास में मारे गए लोगों की संख्या इससे कई गुना ज़्यादा थी — शायद 3.6 से 6.0 करोड़ या उससे भी ज़्यादा![43]

युरोपीय जहाजी डाकू आसानी से लैटिन अमरीकी सभ्यताओं को फतह कर सके थे, और अपने बेहतर जहाज़ों और तोपों के दम पर तटवर्ती अफ्रीका के साथ व्यापार पर दबदबा स्थापित कर अफ्रीकियों को बंदी बनाकर उन्हें अमरीकी महाद्वीप में बतौर गुलाम भेज सके थे।[44] लेकिन जब वे भारत (और चीन) पहुंचे तो उनका सामना एक ऐसे समाज से हुआ जिसकी मैन्यूफेक्चरिंग व शिल्प क्षमताएं तथा व्यापारिक व वित्तीय क्षमताएं यूरोप से कमतर नहीं थी। बल्कि ज़्यादा संभावना इस बात की है ये क्षमताएं यूरोप से श्रेष्ठ थीं।[45] और इसलिए 17वीं सदी तक यूरोप के व्यापारियों के पास वस्तुओं के रूप में भारत को देने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं था। दूसरी ओर, यूरोप में भारतीय माल की विशाल मांग थी; तो यूरोप के व्यापारी भारत से ख़रीदे गए माल का भुगतान लैटिन अमेरिका से लूटे गए सोने-चांदी से करते थे।[46]

18वीं शताब्दी के मध्य तक पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक क्रांति के लिए परिस्थितियां निर्मित हो चुकी थीं। लैटिन अमेरिकी उपनिवेशों और तटीय अफ्रीका में यूरोप के नियंत्रण वाले क्षेत्रों से विनिर्मित वस्तुओं की भारी मांग ने उत्पादन में भारी वृद्धि के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया; तो लैटिन अमेरिका से सोने व चांदी की विशाल लूट और गुलाम व्यापार से भारी मुनाफे ने औद्योगिक क्रांति के लिए ज़रूरी शुरुआती पूंजी की भारी मात्रा उपलब्ध कराई।

लैटिन अमेरिका व तटीय अफ्रीका के उपनिवेशीकरण के दम पर हुई औद्योगिक क्रांति ने यूरोप के लोगों को भारत पर एक निर्णायक बढ़त हासिल करने में सक्षम बनाया और 18वीं–19वीं सदी के दौरान वे इसे धीरे-धीरे उपनिवेश बनाने में सफल हुए। इसी ने उन्हें अफ्रीका के अंदरूनी हिस्सों को भी उपनिवेश बनाने में समर्थ बनाया। और इस प्रकार, एक सदी से भी कम समय में, 1878 तक युरोपीय देश दुनिया के 67% भूभाग पर अपना

नियंत्रण फैला चुके थे (यूरोप में भी और उपनिवेशों तथा भूतपूर्व उपनिवेशों में भी), जो 1800 में 35% था।[47] एशिया, अफ़्रीका व लैटिन अमेरिका के ये उपनिवेश अब यूरोप को औद्योगिक क्रांति को निर्बाध ढंग से जारी रखने के लिए ज़रूरी विपुल मात्रा में कच्चा माल और बाज़ार भी उपलब्ध कराने लगे।

4. पूंजीवाद का एकाधिकारी पूंजीवाद में कायांतरण

उन्नीसवीं सदी के मध्य में पश्चिमी यूरोप और यूएसए राज्य में सामान्य पूंजीवादी कंपनी एक छोटी कंपनी हुआ करती थी। पूंजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा के चलते कमज़ोर कंपनियों को शक्तिशाली कंपनियों ने धीरे-धीरे अधिग्रहित कर लिया। सदी के अंत तक, इसने इन देशों (जिन्हें आज विकसित पूंजीवादी देश कहते हैं) में स्वयं पूंजीवाद की प्रकृति को ही बदल डाला: छोटी कंपनी की जगह विशाल कॉर्पोरेशन (निगम) ने ले ली। पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर अब विशाल इज़ारेदारियों का वर्चस्व हो गया। इससे पूंजीवाद के अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इन एकाधिकारी कॉर्पोरेशन्स के पास भारी मात्रा में पूंजी थी और उत्पादन बढ़ाने की विपुल क्षमता थी। उन्हें जल्दी ही इस बात का एहसास हो गया कि अगर वे आपस में मूल्य प्रतिस्पर्धा करते हैं, तो यह सभी के लिए विनाशकारी होगा। और इसलिए उन्होंने एक-दूसरे के साथ मूल्य प्रतियोगिता करना बंद कर दिया। जब मूल्यों की प्रतिस्पर्धा नहीं करनी है, यानी मूल्य मिलकर तय करने हैं, तो किमतें कम रखनें की क्या जरूरत है? इसलिए अब बड़े निगमों ने कार्टेल (संघ) बनाकर कीमतों को बढ़ाकर अति-लाभ (सुपर-मुनाफा) कमाना शुरू कर दिया। (इसका मतलब यह नहीं है कि उनके बीच प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई; इसने अब बाजार पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रतिस्पर्धा का रूप ले लिया।) और बैंकिंग व औद्योगिक पूंजी के विलय के बाद तो पूंजीवादी दुनिया में एकाधिकारी पूंजीपतियों के एक नए अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ जो पूंजी के एक विशाल भंडार के अधिपति थे।

अतीत में भी प्रतिस्पर्धा का दबाव, ज़्यादा से ज़्यादा पूंजी संग्रह करने की सतत चाहत और कच्चे माल के स्रोतों पर नियंत्रण के फायदों ने पूंजीपतियों को राष्ट्रीय सरहदों के पार जाने के लिए प्रेरित किया था। एकाधिकारी पूंजीवाद के उदय के बाद इसने विकसित देशों के बीच अन्य देशों के कच्चे माल के स्रोतों और बाज़ारों पर कब्ज़ा जमाने के लिए प्रतिस्पर्धा का रूप ले लिया। 19वीं सदी के अंत में विकसित देशों के बीच दुनिया को उपनिवेश बनाने के लिए होड़ का यह एक प्रमुख कारण था (जिसकी चर्चा पिछले खंड में की गई है)। इन्हीं कारणों से विकसित पूंजीवादी देशों को साम्राज्यवादी देश भी कहा जाता है।

एकाधिकारी पूंजीवाद और बेरोज़गारी

पूंजीपति ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफा कमाने की कोशिश में रहते हैं। इसके लिए वे अपनी

पूंजी को वस्तुओं के उत्पादन में लगाते हैं, इन वस्तुओं को बाज़ार में मुनाफा लेकर बेचते हैं, और अपने अधिकांश मुनाफे को और अधिक वस्तुओं के उत्पादन में लगा देते हैं ताकि और मुनाफा कमा सकें। इस चक्र के निर्बाध रूप से चलने के लिए ज़रूरी है कि वस्तुएं बिकती रहें। लेकिन साथ ही, अपना मुनाफा अधिकतम करने के लिए, पूंजीपति कोशिश करते हैं कि कम से कम मज़दूरों को नियुक्त करें और उन्हें यथासंभव कम से कम वेतन दें। इससे बाज़ार का विकास बाधित होता है, और अंततः एक ऐसी स्थिति आती है जब पूंजीपति अपना माल बेचने में असमर्थ हो जाते हैं। अब मुनाफा संचय की प्रक्रिया बाधित हो जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था संकट में चली जाती है, जिसे मंदी भी कहते हैं।

19वीं सदी में छोटे पैमाने के पूंजीवाद (इसे लघु पूंजीवाद भी कहते हैं) के दौर में यूरोप में पूंजीवाद लगभग शुरू से निर्मित हो रहा था। बुनियादी उद्योगों की स्थापना, और सड़कों, रेल लाइनों व बंदरगाहों जैसी अधोसंरचना के निर्माण में भारी मात्रा में धन की ज़रूरत थी। इसलिये, उस समय मंदी के दौर संक्षिप्त होते थे, अर्थव्यवस्था जल्दी ही पटरी पर आ जाती थी, और ऐसा लगता था कि पूंजी निवेश के अवसरों की लगभग कोई सीमा नहीं है।

छोटे पैमाने के पूंजीवाद ने जब एकाधिकारी पूंजीवाद का रूप लिया तो हालात बदल गए। एक ओर तो बुनियादी उद्योग स्थापित किए जा चुके थे और अधोसंरचना भी व्यवस्थित हो चुकी थी। लिहाज़ा, निवेश के अवसर अब सीमित थे। दूसरी ओर छोटी-छोटी कम्पनियों के स्थान पर एकाधिकारी कॉर्पोरेशन्स के आ जाने का मतलब था कि इन निगमों के पास विशाल पूंजी थी; चूंकि इन्होंने कीमतें ऊंची रखने के लिए आपस में कार्टेल बना लिए थे, इसलिए उनके निवेशों पर भारी मुनाफा होता था; और दैत्याकार निगमों के विकास के साथ मशीनीकरण भी अत्यंत उच्च स्तर पर पहुंच गया, जिसके चलते वे उत्पादन को शीघ्रता से बढ़ा सकते थे। इन परिस्थितियों में पूंजीवाद के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई — मुनाफे के बढ़ते भंडार का निवेश करने के अवसर कहां से लाएं?

परिणामस्वरूप, 20वीं सदी की शुरुआत से विकसित पूंजीवादी देश एक ऐसे संकट का सामना कर रहे हैं, जो 19वीं सदी के संकटों जैसा अस्थायी नहीं है। उनकी अर्थव्यवस्थाएं धीमे विकास, उच्च बेरोज़गारी और अतिरिक्त (अप्रयुक्त) क्षमता की स्थिति में फंस गई हैं। इसे अर्थशास्त्रियों ने 'स्टेगनेशन' (ठहराव) का नाम दिया है। ऐसा नहीं है कि विकसित पूंजीवादी देशों ने 20वीं सदी में तेज़ वृद्धि के दौर नहीं देखे हैं, लेकिन ऐसे दौर विशेष बाहरी कारकों की वजह से हुए हैं। व्यवस्था का आंतरिक तर्क तो उन्हें ठहराव की ओर ही धकेलता है।

यदि वे अपने संयंत्रों को पूरी क्षमता पर चलाते हैं तो उत्पादित वस्तुएं इतनी ज्यादा होती हैं कि बिकती नहीं हैं; इसलिए विशाल कॉर्पोरेशन्स अपने संयंत्रों को सीमित क्षमता पर ही चलाते हैं ताकि उतना ही माल बने जिसे बेचा जा सके। क्योंकि वे अपने संयंत्रों को पूरी क्षमता पर नहीं चलाते, तो उन्हें उन सारे मज़दूरों की ज़रूरत नहीं होती जिन्हें उन्होंने नियुक्त किया है। तो वे अतिरिक्त मज़दूरों की छंटनी कर देते हैं। नतीजतन, बेरोज़गारी बढ़ती

है। इसके कारण वस्तुओं की मांग में और कमी आती है। तो कॉर्पोरेशन्स अपना निवेश और कम कर देते हैं, उनके संयंत्रों में अप्रयुक्त क्षमता और अधिक हो जाती है, वे और मज़दूरों की छंटनी करते हैं। यह चलता रहता है। दूसरे शब्दों में, ठहराव और गहरे ठहराव का कारण बनता है।

यह समस्या सबसे पहले 1929–38 की महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के समय सामने आई थी। यूएसए से शुरू होकर यह पूरे पूंजीवादी विश्व में फैल गई थी। इसकी वजह से उत्पादन में भारी गिरावट हुई, क्योंकि कारखाने बंद हो गए, मिलें और खदानें बेकार हो गईं। 1929 से 1932/33 के दरम्यान औद्योगिक उत्पादन यूएसए में 47%, जर्मनी में 41.8%, फ्रांस में 31.3% तथा इटली में 33% कम हुआ। 1933 में बहाली शुरू हुई, लेकिन पूर्ण बहाली के पहले ही 1937 में अनेक देशों में फिर तीव्र गिरावट आ गई।[48]

इसके परिणामस्वरूप पूंजीवादी दुनिया के लगभग हर देश में भीषण बेरोज़गारी पैदा हुई। विकसित देशों में, पूरा दशक (1929–38) दो अंकों की बेरोज़गारी का गवाह रहा और संकट के चरम पर (1932 में) तो बेरोज़गारी 31.4% के भयानक स्तर पर थी।[49] यूएसए में 1933 में लगभग 25% श्रमिक बेरोज़गार थे। फिर 1933–37 की बहाली के दौरान बेरोज़गारी घटकर 14.3% रह गई, जो अधिक ही थी। इसके बाद अर्थव्यवस्था एक बार फिर धराशायी हुई और 1938 में बेरोज़गारी बढ़कर 19% हो गई।[50]

पूंजीवाद का सुनहरा युग और कल्याणकारी राज्य का उदय

महामंदी को समाप्त करने का काम द्वितीय विश्व युद्ध ने किया। इस युद्ध ने विकसित देशों में विकास को बहाल किया क्योंकि इसने सैन्य सामग्री की ज़बरदस्त मांग पैदा की; द्वितीय विश्व युद्ध इतना बड़ा था और इसने सैन्य सामग्री की इतनी अधिक मांग पैदा की थी कि फौजी मांग को पूरा करने के लिए कई क्षेत्रों में नागरिक उत्पादन बंद करना पड़ा था। परिणामस्वरुप, निवेश बहुत बढ़ा, उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई, और बेरोज़गारी भी लगभग समाप्त हो गई।[51]

युद्ध समाप्त होने के बाद भी कई विशिष्ट बाह्य कारकों के कारण तेजी जारी रही: पश्चिमी यूरोप में युद्ध के विनाश की दुरुस्ती; अर्थव्यवस्था का मोटरीकरण जिसने उपनगरीकरण को भी बढ़ावा दिया और दोनों ने मिलकर कई अन्य उद्योगों में निवेश के लिए बड़े मौके उपलब्ध कराए; एशिया में बड़े क्षेत्रीय युद्ध (कोरियाई युद्ध और वियतनाम युद्ध); और शीत युद्ध की आड़ में भारी सैन्य खर्च का जारी रहना। इन सब ने निवेश के भरपूर अवसर प्रदान किए। इसी वजह से 1950 और 1960 के दशकों को पूंजीवाद का सुनहरा युग कहा जाता है।

इसके साथ ही यूएसए व यूरोप में कल्याणकारी राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। मज़दूर वर्ग की बगावत के अंदेशे और सोवियत संघ में विकास के वैकल्पिक मॉडल ने विकसित देशों को मजबूर किया कि वे मेहनतकश लोगों के लिए उदार सामाजिक सुरक्षा के प्रावधान,

ज़्यादा शैक्षणिक अवसर और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं स्वीकृत करें। युद्ध के उपरांत करीब चौथाई सदी तक उनकी अर्थव्यवस्थाएं तेज़ी से बढ़ रही थीं, इसलिए पूंजीपति वर्ग को कल्याणकारी राज्य की ओर बढ़ने में कोई दिक्कत नहीं हुई।

अलबत्ता, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिन कारकों ने तेजी पैदा की थी, वे सबके सब विशेष कारक थे, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सामान्य कामकाज से बाहर के थे। जब 1960 के दशक के अंत व 1970 के दशक की शुरुआत में ये कारक कमज़ोर पड़ने लगे, तो विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं एक बार फिर ठहराव के संकट में फंसने लगीं — जिसकी शुरुआत 1974–75 की मंदी के साथ हुई।

5. नवउदारवाद

आर्थिक धीमेपन से निपटने के लिए, 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में, पश्चिम के पूंजीवादी वर्गों ने एक पुराने आर्थिक सिद्धांत को पुनर्जीवित किया जिसे पहली बार 1920 के दशक में प्रस्तावित किया गया था — नवउदारवाद। यह कहता है कि:

मानव कल्याण को सर्वोत्तम बढ़ावा मुक्त बाज़ार और मुक्त व्यापार से मिलता है।

नवउदारवाद शिक्षा, स्वास्थ्य और पेयजल जैसे क्षेत्रों में भी निजीकरण तथा मुक्त बाज़ार की स्थापना का आव्हान करता है, जहां अब तक सार्वजनिक खर्च का प्रभुत्व था और सरकारों ने मुक्त बाज़ारों पर पाबंदियां लगा रखी थीं।

नवउदारवाद के साथ बड़े कारोबारों के लिए मुनाफा कमाने के कई नए-नए तरीके उभरे, जैसे: संतृप्त बाज़ारों में माल बेचने के लिए विशाल विपणन ढांचे का विकास; अर्थव्यवस्था की उत्पादक बुनियाद के ऊपर एक विशाल वित्तीय अधिरचना (सुपरस्ट्रक्चर) का निर्माण, ताकि वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश के रास्ते बंद होने के कारण सट्टेबाज़ी में लगाए जा रहे खरबों डॉलर को सोखा जा सके; वैश्वीकरण — जो वास्तव में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अल्पविकसित देशों के बाज़ारों को साम्राज्यवादी देशों के एकाधिकारी कॉर्पोरेशन्स के लिए ज़बर्दस्ती खुलवाने का दूसरा नाम है; और वैश्विक श्रम अंतरपणन — अर्थात पाश्चात्य कॉर्पोरेशन्स द्वारा अपने उत्पादन को विकसित अर्थव्यवस्थाओं से निकालकर अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में ले जाना, ताकि वहां मज़दूरी की न्यून दरों का लाभ उठाया जा सके।

नवउदारवाद विकसित देशों के कॉर्पोरेशन्स के लिए एक बड़ी कामयाबी साबित हुआ है: इसने उन्हें दुनिया भर में अपना जाल फैलाकर भारी मुनाफा कमाने में मदद की है।

लेकिन पूंजीवाद 1970 के दशक से जिस ठहराव के संकट का सामना कर रहा है, उससे बाहर निकालने में नवउदारवाद पूरी तरह नाकाम रहा है। विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं धीमी होती रही हैं। यूएसए में वास्तविक जीडीपी वृद्धि 1950 व 1960 के दशक में 4% सालाना थी, वह 1970 से 1990 के दशक के बीच गिरकर 3% वार्षिक के

आसपास रह गई। और 2001–18 के बीच तो इसकी वार्षिक वृद्धि दर 2% से भी कम रह गई। यह गिरावट युरोपीय संघ और जापान में और भी तीव्र रही है।[52] विकसित देशों की अर्थव्यस्थाओं ने 2007–09 में बड़ा वित्तीय विध्वंस भी झेला, जिसने उन्हें इतनी गहरी मंदी में धकेला कि वे आज तक उससे उबरने के लिए हाथ-पांव मार रहे हैं।

नवउदारवाद और श्रमिक वर्ग पर हमला

नवउदारवाद नंगा पूंजीवाद है — बिगड़ते आर्थिक संकट के साये में पूंजीपति वर्ग अपने मुनाफे को बनाए रखने और बढ़ाने के लिए सारे संभव हथकंडे अपना रहा है। और इसलिए, नवउदारवाद का एक महत्वपूर्ण घटक यह है कि 1950 व 1960 के दशक में मेहनतकश लोगों ने जो भी उपलब्धियां हासिल की थीं, पूंजीपतियों ने उन्हें वापिस छीनने के लिए भयंकर आक्रमण शुरू किया है। इसके अंतर्गत है:

- स्थायी श्रमिकों के बदले ठेका श्रमिकों को नियुक्त कर श्रम लागत को कम करना;
- काम की तीव्रता बढ़ाना;
- श्रमिक वर्गों के कल्याण हेतु सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्चों को कम करना और बचत को पूंजीपति वर्ग को हस्तांतरित करना।

अत:, विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं में बेरोज़गारी का दैत्य ऐसे स्तर पर हावी है जैसा महामंदी के बाद कभी नहीं देखा गया। यूएसए में रोज़गार सृजन 1970 के दशक से धीमा होता रहा है — 1970–1980 के दशकों में यह सालाना 2% था और 2002–2012 के दशक में घटकर मात्र 0.3% सालाना रह गया।[53] परिणामस्वरूप, बेरोज़गारी आसमान छू रही है।

हालांकि यूएसए में सरकारी बेरोज़गारी दर 2019 में 3.5 और 4.0% के बीच थी, लेकिन वास्तविक बेरोज़गारी की स्थिति कहीं अधिक खराब थी। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस आंकड़े में वे कामगार शामिल नहीं हैं जो अंशकालिक नौकरी कर रहे हैं और पूर्णकालिक नौकरी के इच्छुक हैं। इनमें उन कामगारों की भी बड़ी तादाद शामिल नहीं है जिन्होंने हताश होकर काम की तलाश छोड़ दी है (जिन्हें निरुत्साहित कामगार कहते हैं)। उदाहरण के लिए, अप्रैल 2019 में सरकारी बेरोज़गारी दर 3.6% थी। लेकिन पूर्णकालिक काम के इच्छुक अंशकालिक कामगारों और निरुत्साहित कामगारों को जोड़ लिया जाए तो अप्रैल 2019 में बेरोज़गारी दर 12.7% के उच्च स्तर पर थी।[54]

अलबत्ता, यह आंकड़ा भी एक न्यून-आकलन है। इसमें अस्थायी नौकरियों में काम करने वाले कामगार शामिल नहीं हैं, जिन्हें आकस्मिक (contingent) कामगार भी कहते हैं। इस अर्थव्यवस्था को एक नया नाम दिया गया है – 'गिग इकॉनमी'। विभिन्न सर्वेक्षणों के अनुसार, ऐसे कामगार कुल कार्य बल का एक-चौथाई से एक-तिहाई तक हैं। यदि हम इतना ही मानें कि इनमें से एक-चौथाई ऐसे हैं जो पूर्णकालिक रोज़गार चाहते हैं और उन्हें अर्ध-

बेरोज़गार लोगों के समूह में रखा जाना चाहिए, तो अप्रैल 2019 के लिए वास्तविक बेरोज़गारी (यानी बेरोज़गारी + अर्ध-बेरोज़गारी) की दर 18.3% हो जाती है — यह आंकड़ा महामंदी के वर्षों के लगभग बराबर है।[55]

यूएसए में बढ़ती बेरोज़गारी के साथ और भी चीज़ें आई हैं: (i) नौकरियों की गुणवत्ता में गिरावट, पूर्णकालिक कामगारों के स्थान पर अंशकालिक कामगारों की नियुक्त; और (ii) वास्तविक वेतन में ठहराव — सारे कामगारों का वास्तविक वेतन (मुद्रास्फीती को समायोजित करके) 40 साल पहले के मुकाबले आज 10% कम है।[56]

वास्तविक वेतन में ठहराव और बढ़ती बेरोज़गारी के परिणामस्वरूप गरीबी में भारी वृद्धि हुई है। यूएसए में लगभग 15% जनसंख्या, यानी 4.6 करोड़ लोग, गरीबी रेखा के नीचे जी रहे हैं; और 10 करोड़ से अधिक लोग (यूएसए की आबादी का एक-तिहाई) गरीबी रेखा की आमदनी से दुगनी आमदनी पर जी रहे हैं।[57] और ये सभी आंकड़े यूएसए में 2020 की शुरुआत में कोरोना महामारी के आने से पहले के हैं — जिसने इस 'बेरोज़गारी और गरीबी' के संकट को बहुत बढ़ा दिया है। (इसकी चर्चा हम अगले भाग में करेंगे।)

दूसरी ओर, अमीरों की आमदनी में ज़बरदस्त वृद्धि हुई है: 1970 के बाद के पांच दशकों में सर्वोच्च 1% की आमदनी की वृद्धि दर सबसे निचले 50% की आमदनी की वृद्धि दर से 100 गुना ज्यादा रही है। इस तथ्य और लगातार पश्चगामी होते जा रहे कर ढांचे — नवउदारवाद का एक और परिणाम, जिसके कारण आज अमीर निम्न आय वर्ग की तुलना में कम कर दे रहे हैं — का परिणाम यह हुआ है कि गैर-बराबरी बढ़ी है: 1970 से 2018 की अवधि में सबसे अमीर 1% और सबसे अमीर 0.01% की औसत संपदा सबसे निचले 50% की तुलना में आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ी है (चार्ट 1)।[58] संपदा की खाई इतनी भयानक हो गई है कि 2018 में तीन सबसे रईस अमरीकियों की कुल संपदा यूएसए के 50% सबसे

चार्ट 1: यूएसए: अत्यंत धनाढ्य और सबसे निचले 50% की संपदा का अनुपात, 1970 और 2018

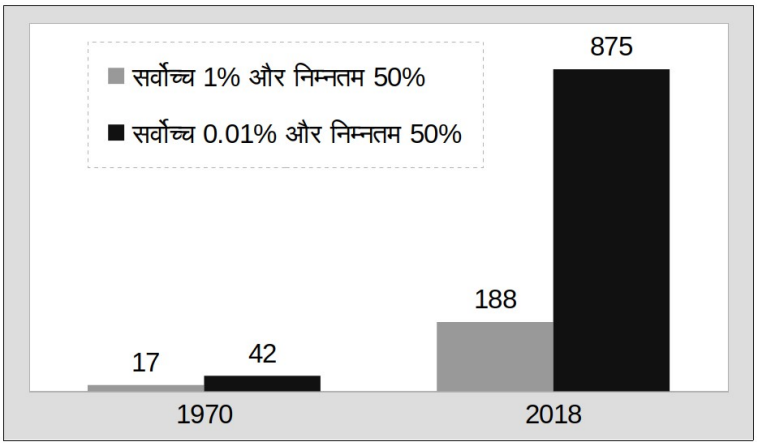

गरीब नागरिकों की कुल संपदा से ज़्यादा थी।[59]

युरोप में हालात इतने ही बुरे हैं। EU–28 के आधिकारिक आंकड़ों के मुताबिक 2016 में बेरोज़गारी की दर 8.5% थी; लेकिन यदि अल्प-रोज़गार प्राप्त कामगारों (अर्ध-बेरोज़गारों) और काम के लिए उपलब्ध कामगार जिन्होंने नौकरी तलाश करना बंद कर दिया है को जोड़ दिया जाए तो बेरोज़गारी की दर इससे दुगनी यानी 16.2% निकलती है।[60]

यूरोप में गरीबी का स्तर भी बहुत अधिक है। 2016 में युरोपीय संघ के 28 देशों (EU-28) में कम से कम 12.2 करोड़ लोग (कुल आबादी का 24.1%) किसी न किसी तरह की गरीबी का अनुभव कर रहे थे: अल्प वेतन/अंशकालिक नौकरी, बिजली अथवा मकान किराया चुकाने में असमर्थता, या ठीक-ठाक पौष्टिक भोजन खाने में असमर्थता।[61]

नस्लीय पूंजीवाद और बेरोज़गारी

जैसे कि हमने ऊपर चर्चा की है, ट्रान्साटलांटिक दास व्यापार — जिसमें कि बंदी बनाए गए लाखों अफ्रीकी लोगों को गुलाम जहाज़ों में अफ्रीका से उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में बागानों पर काम करने के लिए ले जाया गया — ने यूएसए और पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस दास व्यापार की सबसे अमानवीय विरासत नस्लवाद है। गुलामी को वैध बनाने के लिए, विकसित पूंजीवादी देशों ने काले लोगों को असभ्य, हीन और कमतर मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया।

यूएसए और पश्चिमी युरोप द्वारा औपचारिक रूप से गुलामी को समाप्त करने के बाद भी, इन देशों में शक्तिशाली नागरिक अधिकार आंदोलनों के बावजूद, इन देशों में नस्लवाद और नस्लीय उत्पीड़न आज भी जारी है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इन देशों के गोरे शासक पूंजीपति वर्गों ने इसका इस्तेमाल काले मेहनतकश लोगों के शोषण को तीव्र कर अपने मुनाफे में वृद्धि करने के लिए किया है। पूंजीवादी मंदियों के दौरान काले लोगों ने सदमा अवशोषक (shock absorber) का भी काम किया है — उन्हें सबसे पहले काम से निकला गया और सबसे अंत में वापस काम पर रखा गया। यानी कि मंदियों के दौरान काले लोगों ने सबसे अधिक नुकसान उठाया है, जैसे, गोरों की तुलना में उन्होंने ज्यादा नौकरियां खोई हैं। नतीजतन, संकटों के समय में गोरे श्रमिक वर्ग को अपेक्षाकृत कम नुकसान हुआ है, उनकी नौकरी और आय अधिक सुरक्षित रही है।

इसीलिए, आज भी काले लोग अमरीकी समाज के सबसे निचले पायदान पर हैं — गोरों की तुलना में कालों में गरीबी और बेरोज़गारी कहीं अधिक है। अमरीकी आधिकारिक आंकड़े बताते हैं कि पिछले कई दशकों में (1972 से, जब से यूएसए ने काली बेरोज़गारी दर पर डेटा एकत्र करना शुरू किया) यूएसए में काले लोगों की बेरोज़गारी दर गोरों की तुलना में लगभग दोगुनी रही है। काले परिवार आमतौर पर गोरे परिवारों की तुलना में बहुत कम कमाते हैं; गरीबी में रहने वाले कालों का प्रतिशत कुल जनसंख्या में उनके हिस्से से

कहीं अधिक है। और काले अमरीकियों के लिए क़ैद की दर गोरे अमरीकियों की क़ैद दर से छह गुना है।[62] यही कारण है कि यूएसए और पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद को नस्लीय पूंजीवाद भी कहते हैं।

कोरोना महामारी और बेरोज़गारी

विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं 2007–09 की गहरी मंडी से अभी तक उबर नहीं पाई थीं — बल्कि 2019 में वे फिर से धीमी होने लगी थीं — कि 2020 की शुरुआत में कोरोना महामारी ने उन पर प्रहार किया। वैसे तो यह महामारी भी अधिकाधिक नफे की तलाश में वैश्विक एकाधिकारी पूंजीवादी व्यवस्था की विनाशकारी पर्यावरणीय कार्यकलापों का ही परिणाम है।[63] फिर, कॉर्पोरेट मुनाफे को बनाए रखने के प्रयास में, विकसित पूंजीवादी देशों ने महामारी के प्रसार को नियंत्रित करने के लिए कदम उठाने में देरी की। जैसे-जैसे मृत्यु दर बढ़ती गई, दहशत फैल गई और आखिरकार उनकी सरकारों को कार्रवाई करने के लिए मजबूर होना पड़ा और तालाबंदी लागू कर दी। लेकिन तब भी उन्होंने जन-केंद्रित दृष्टिकोण नहीं अपनाया, और सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा और संक्रमण की श्रृंखला को तोड़ने के लिए आवश्यक उपाय नहीं किए।[64] लॉकडाउन के कारण निगमों का मुनाफा प्रभावित होने लगा, उन्होंने सरकारों पर दबाव डालना शुरू किया, और थोड़े ही समय के बाद इन देशों की अर्थव्यवस्थाएं फिर से खोल दी गईं — महामारी पर पूरी तरह से काबू पा लेने के पहले ही। नतीजतन यूएसए और अधिकांश युरोपीय देशों में, कोरोना संक्रमण एक बार फिर से बढ़ रहा है। इसे दूसरी लहर, कहीं-कहीं पर तीसरी लहर, कहा जा रहा है, और लॉकडाउन फिर से लागू करने पड़ रहे हैं।

इसके परिणामस्वरूप विकसित पूंजीवादी देशों में मृत्यु दर दुनिया में सबसे अधिक हैं। प्रति करोड़ जनसंख्या पर मृत्यु दर थी: यूएसए – 938, यूके – 953, फ्रांस – 904, स्पेन – 1035; जबकि गैर-पूंजीवादी देशों या प्रगतिशील सरकारों वाले देशों ने कॉर्पोरेट मुनाफे से ऊपर लोगों के स्वास्थ्य को प्राथमिकता दी, और इसलिए इन देशों में मृत्यु दर बहुत कम थी: चीन – 3, न्यूजीलैंड – 5, वेनेज़ुएला – 34 (सभी आंकड़े 15 दिसंबर 2020 के हैं)।[65]

'लोगों से पहले लाभ' के इस दृष्टिकोण का एक और परिणाम यह है कि विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं महामंदी के बाद से अपने सबसे गहरे संकट में डूब गई हैं। समाचार रिपोर्टों के अनुसार 2020 में वैश्विक अर्थव्यवस्था के कम से कम 5% सिकुड़ने की उम्मीद है, जो पिछले 70 वर्षों में सबसे बड़ी गिरावट होगी।[66]

पहले से ही खराब बेरोज़गारी की स्थिति के लिए इसके भयानक परिणाम हुए हैं। सरकारी अर्थशास्त्री भी स्वीकार कर रहे हैं कि यूएसए में अप्रैल–मई 2020 में बेरोज़गारी का स्तर महामंदी के वर्षों के करीब था। यदि हम इस आंकड़े में निरूत्साहित श्रमिकों और पूर्णकालिक रोज़गार चाहने वाले अल्प-रोज़गारशुदा लोगों की संख्या शामिल करते हैं, तो यह संभव है कि बेरोज़गारी की स्थिति 1930 के दशक से भी बदतर हो सकती है।[67]

और जैसा कि नस्लीय पूंजीवाद के कारण उम्मीद की जानी चाहिए, कोरोना महामारी के दौरान भी यूएसए में काले लोगों को गोरों की तुलना में अधिक पीड़ा सहन करनी पड़ी है — मार्च–अप्रैल 2020 के दौरान उन्होंने गोरों की तुलना में अधिक नौकरियां गवाईं, और फिर, जब मई के बाद व्यवसायों को फिर से खोलने की अनुमति दी गई, तो सबसे पहले गोरों को काम पर रखा गया।[68]

ओईसीडी के अन्य देशों में परिस्थिति इतनी ही खराब है — बेरोज़गारी की दरें महामंदी के वर्षों के बाद से अपने उच्चतम स्तर पर हैं।

6. वैश्वीकरण

20वीं सदी के अंतिम दो दशकों के दौरान विश्व अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन्होंने साम्राज्यवादी देशों के लिए यह संभव बनाया कि वे अल्पविकसित देशों पर नवउदारवाद थोप सकें। आधिकारिक अर्थशास्त्र की द्वयर्थी भाषा में, इसे वैश्वीकरण कहा जाता है। इन परिवर्तनों को समझने के लिए हमें थोड़ा इतिहास में जाना होगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के प्रथम दो दशकों में उपनिवेश-विरोधी संघर्षों की लहर के परिणामस्वरूप एशिया व अफ्रीका के अधिकांश देश आज़ाद हो गए। आज़ादी के बाद इनमें से अधिकांश देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विकसित करने के लिए एक स्वायत्त देशज पूंजीवादी विकास का मॉडल लागू करने का प्रयास किया, जिसमें कि रणनीतिक क्षेत्रों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया। अपनी अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी पूंजी की घुसपैठ को सीमित करना इस नीति का एक महत्वपूर्ण घटक था।

हालांकि आज इस मॉडल को बहुत बदनाम किया जाता है, लेकिन इंग्लैंड से लेकर जर्मनी और यूएसए तक सारे विकसित पूंजीवादी देशों ने 18वीं–19वीं सदी में अपनी औद्योगिक क्रांतियों को अंजाम देने के लिए यही मॉडल अपनाया था।[69] लेकिन जब अल्पविकसित देशों (यानी एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के पूर्व-उपनिवेशों) ने 20वीं सदी के उत्तरार्ध में इसी मॉडल को अपनाना चाहा तो उनकी कोशिशें असफल रहीं! क्यों?

क्योंकि पूंजीवाद हमेशा से ही गैर-बराबर विकास की एक वैश्विक व्यवस्था रही है, जिसमें एक इलाके का विकास दूसरे इलाकों के निर्धनीकरण की कीमत पर होता है। यूएसए और यूरोप विकसित हैं क्योंकि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका अल्पविकसित हैं। इसे एदुआर्दो गालियानो ने अपनी कालजयी कृति *ओपन वेन्स ऑफ लैटिन अमेरिका* (Open Veins of Latin America) में बहुत ही मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है:[70]

> जो लोग इतिहास को एक प्रतियोगिता के रूप में देखते हैं, उनके लिए लैटिन अमेरिका का पिछड़ापन और गरीबी महज उसकी विफलता का परिणाम है। हम हार गए; दूसरे जीते। लेकिन विजेता विजयी हुए, क्योंकि हम हारे। जैसा कि किसी ने कहा है, लैटिन अमेरिका के अल्पविकास का इतिहास, विश्व पूंजीवाद के विकास के इतिहास का एक अभिन्न अंग है। हमारी पराजय सदा दूसरों की विजय में

अन्तर्निहित रही है; हमारी संपदा ने सदा दूसरों — साम्राज्यों और उनके स्थानीय कारिंदों — को समृद्ध बनाकर हमारे लिए गरीबी पैदा की है ...

विकसित देश 'विकसित' हैं क्योंकि उन्होंने बाकी दुनिया को बर्बर तरीके से लूटा है — अमरीकी महाद्वीप में सोने और चांदी की लूट, उस महाद्वीप की देशज आबादी का गुलामीकरण और उनका खदानों में दफन, अफ्रीका का काली खाल के व्यावसायिक शिकार के लिए संरक्षित क्षेत्र में परिवर्तन, और भारत की फतह तथा लूट।

विकसित देशों ने अपनी औद्योगिक क्रांति का वित्तपोषण करने के लिए न केवल अपने उपनिवेशों को लूटा और वहां की देशज आबादी का नरसंहार किया; उनकी लूट के तरीके ऐसे थे कि उन्होंने अपने उपनिवेशों की अर्थव्यवस्थाओं को पंगु बना दिया। साम्राज्यों ने जानबूझकर अपने उपनिवेशों की कृषि व उद्योगों का विनाश किया और उन्हें इस ढंग से पुनर्गठित किया कि वे विजेताओं के लिए कच्चे माल और निवेश सम्बंधी ज़रूरतों की पूर्ति कर सकें; वहां के लोगों के कौशलों का गला घोंट दिया; उनके शिक्षा तंत्र, संस्कृति व परंपराओं को तहस-नहस कर दिया; और उन पर अपनी विदेशी संस्कृति और भाषा थोप दी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, जब एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों ने अपनी औद्योगिक क्रांतियों को अंजाम देने का प्रयास किया, तो उनका विकास कई कारकों के चलते बाधित हुआ: (i) सदियों की औपनिवेशिक लूट के कारण उनकी अर्थव्यवस्थाएं बुरी तरह से तबाह हो चुकी थीं; (ii) उनकी अर्थव्यवस्थाओं को औपनिवेशिक शासकों ने न सिर्फ तबाह कर दिया था, बल्कि अपंग भी कर दिया था; और (iii) उपरोक्त दोनों कारकों के चलते इन देशों के पास औद्योगिक क्रांति के लिए जरूरी प्राथमिक पूंजी नहीं थी।

इसके अलावा, विकसित देशों ने अपने पूर्व उपनिवेशों के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करने के लिए हर किस्म के हथकण्डों का इस्तेमाल किया, जैसे: उनके नेताओं में से साम्राज्यविरोधी / क्रांतिकारी नेताओं की हत्या की साजिश रचना (उदा.: 1960, कैमरून – फेलिक्स-रोलैंड मौमी; 1961, कांगो – पैट्रिस लुम्बा; 1963, टोगो – सिल्वेनस ओलंपियो; 1965, मोरक्को – मेहदी बेन बरका; 1969, मोजाम्बिक – एडुआर्डो चिवाम्बो मोंडलेन; 1973, गिनी बिसाऊ और केप वर्दे – अमिलकार कैबरल); अपने देश का स्वतंत्र विकास चाहने वाली प्रगतिशील सरकारों को कमजोर करने और यहां तक कि उनका तख्तापलट करने के लिए इन देशों में दक्षिणपंथी संगठनों को हर संभव मदद देना (उदाहरण के लिए: इंडोनेशिया में 1965 में जनरल सुहार्तो ने तख्तापलट कर राष्ट्रपति सुकर्णो को अपदस्थ कर दिया; 1973 में चिली में राष्ट्रपति सल्वाडोर अलेंदे को जनरल ऑगस्तो पिनोशे ने पदच्युत कर उनकी हत्या कर दी); यदि उपरोक्त दोनों तरीकों से काम न चले, तो जहां संभव हो वहां सैन्य हस्तक्षेप कर पश्चिम-परस्त दलाल शासकों को सत्ता में बिठाना (द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से यूएसए ने लैटिन अमेरिका के अनेक देशों में अमरीकी

फौजों को भेजकर अमरीका-परस्त सरकारों को सत्ता में बिठाया है); और, इन देशों में पश्चिम-परस्त सरकारों के सत्ता में आने के बाद उन्हें आर्थिक और सामरिक मदद देना।

इन सभी कारकों के चलते 1970 के दशक तक पूर्व-औपनिवेशिक देशों के विकास मॉडल विफल होने लगे।

ऐसे में अब इन देशों की सरकारों ने आर्थिक 'विकास' की गति को बनाए रखने के लिए विकसित देशों से कर्ज़ लेना शुरू किया। धीरे-धीरे उनका विदेशी कर्ज़ बढ़ता गया और अंतत: अदायगी असंभव हो गई।

कर्ज़ के इस संकट को समझने के लिए, इन देशों के 'आंतरिक कर्ज़' और 'विदेशी (बाहरी) कर्ज़' के बीच अंतर को समझना ज़रूरी है। वे अपना आंतरिक कर्ज़ अपनी घरेलू मुद्रा में अदा कर सकते हैं, लेकिन बाहरी कर्ज़ नहीं। विश्व व्यापार की गैर-बराबरियों के चलते, अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिर्फ विकसित देशों की मुद्राओं में होता है, जैसे डॉलर, यूरो या येन। इसलिए जब अर्जेंटीना जैसे किसी देश पर विदेशी कर्ज़ का बोझ बढ़ता है, तो वह अपनी घरेलू मुद्रा (अर्जेन्टीना की मुद्रा पेसो है) में इसे अदा नहीं कर सकता। उसे कर्ज़ अदायगी डॉलर जैसी अंतरराष्ट्रीय मुद्रा में ही करनी होती है। और यदि उसके पास इस कर्ज़ का ब्याज चुकाने के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा नहीं है तो उसे इसके लिए और डॉलर उधार लेने होंगे, जिसकी वजह से विदेशी कर्ज़ का बोझ और बढ़ जाएगा, और अंतत: वह देश विदेशी कर्ज़ के जाल में उलझ जाता है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नव-स्वाधीन अल्पविकसित देशों के साथ ठीक यही हुआ। 1982 तक इन देशों पर विकसित देशों के कर्ज़ का बोझ 785 अरब डॉलर हो चुका था।[71] उस वर्ष इनमें से 22 देशों ने घोषणा कर दी कि उनके पास इन कर्ज़ों की किश्तें चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा नहीं है।[72]

यह वह समय था जब विश्व स्तर एक और महत्वपूर्ण बदलाव हो रहा था: सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप में नौकरशाही के वर्चस्व वाली गैर-पूंजीवादी व्यवस्थाओं का पतन और इस के साथ शीत युद्ध की समाप्ति। गैर-पूंजीवादी विश्व की इस पराजय के बाद विकसित पूंजीवादी देशों की निगमों के लिए विश्व अर्थव्यवस्था पर दबदबा स्थापित करने के हालात तैयार हो गए।

इस बीच, 1970 के दशक तक, विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं एक बार फिर 'स्टेगनेशन' (ठहराव) में फंस गई थीं — अर्थात उनके बाज़ार संतृप्त हो चुके थे। इसलिए, इन देशों के विशाल कॉर्पोरेशन्स व्यग्रतापूर्वक विदेशों में निवेश के अवसर तलाश रहे थे। यह अवसर कुछ ही वर्षों में सामने आ गया। 1980 के दशक की शुरुआत में, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कई देशों ने विदेशी खाता दिवालिया घोषित कर दिया। उन्होंने अब अपने पश्चिमी कर्ज़दाताओं — विकसित देशों के बैंक और उनकी सरकारों — के साथ कर्ज़ के पुनर्योजन हेतु वार्ता शुरू की। इसने साम्राज्यवादी देशों के लिए एक बार फिर अपने पूर्व उपनिवेशों के बाजारों पर अपना आधिपत्य थोपने की स्थितियां पैदा कर दीं। उन्होंने

अब इन देशों को मजबूर किया कि वे एक बार फिर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को पश्चिमी निगमों की लूट के लिए खोलें। तथाकथित 'विश्व अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण' का वास्तविक सार यही है।

वैश्वीकरण की वास्तविकता को जनता से छुपाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने कर्ज़दार देशों से विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोश (आईएमएफ) के साथ समझौतों पर हस्ताक्षर करवाए जिनके अंतर्गत विदेशी कर्ज़ के संकट से निपटने के लिए मिलने वाले कर्ज़ के बदले उन्हें अपने देश में 'संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम' (Structural Adjustment Programme, एसएपी) लागू करना पड़ा।[73] विश्व बैंक और आईएमएफ अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं हैं जिन पर प्रभावी रूप से यूएसए तथा पश्चिमी यूरोप का नियंत्रण है। इस एसएपी की एक शर्त यह थी कि ये देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विदेशी पूंजी और माल के लिए खोल देंगे। 1980 व 1990 के दशकों में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के 70 से ज़्यादा देशों ने इन समझौतों पर हस्ताक्षर किए। एक बार फिर इन देशों ने विश्व अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी केंद्र पर अपनी निर्भरता को पक्का कर दिया। इसीलिए इन देशों को आश्रित देश (dependent countries) भी कहा जाता है।

जब कोई विदेशी कॉर्पोरेशन किसी आश्रित देश में प्रवेश करता है, तो वह अत्यंत ज़रूरी विदेशी मुद्रा (डॉलर/युरो/येन) लेकर आता है। लेकिन वह निवेश करता है मुनाफे के लिए, जिसे वह अपने मूल देश प्रत्यावर्तित कर देता है (वापिस भेज देता है)। मुनाफे का बहिर्गमन भी डॉलर/युरो/येन के रूप में ही होता है। कोई कॉर्पोरेशन प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तो एक बार ही लाता है, लेकिन वह मुनाफा हर साल प्रत्यावर्तित करता है। जैसे-जैसे किसी आश्रित देश में प्रत्यक्ष विदेश निवेश बढ़ता है, वैसे-वैसे आने वाले वर्षों में मुनाफे का बहिर्गमन और भी तेज़ी से बढ़ता है। समय के साथ, बाहर जाने वाला मुनाफा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से अधिक हो जाता है। आश्रित देश अब या तो अपनी अर्थव्यवस्था को और अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खोलने के लिए, या फिर और अधिक विदेशी कर्ज़ लेने के लिए, मजबूर होता है। यह एक दुष्चक्र है, कर्ज़ के जाल जैसा ही।

लिहाज़ा, जहां एक ओर, आश्रित देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विदेशी पूंजी द्वारा लूटने के लिए अधिक से अधिक खोल रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, उनका विदेशी ऋण भी बढ़ रहा है। उनका कुल विदेशी कर्ज़ 1980 में 510 अरब डॉलर से बढ़कर 2000 में 1,966 अरब डॉलर और 2017 में 7,070 अरब डॉलर हो चुका था। यह कर्ज चुकाने के लिए उनके द्वारा किए गए अथक प्रयासों के बावजूद हुआ है! उदाहरण के लिए, 1970 से 2017 की अवधि में, लैटिन अमेरिका और कैरिबियन देशों ने अपने पश्चिमी कर्ज़दाताओं को कुल 3,707 अरब डॉलर वापस किए थे — इसके बावज़ूद उनका कुल ऋण 8 अरब डॉलर से बढ़कर 1,502 अरब डॉलर हो गया, यानी 18,000% से बढ़ गया![74]

आश्रित देशों की यह लूट इतनी अधिक है कि विश्व बैंक के एक पूर्व कार्यकारी निदेशक ने आश्चर्य के साथ कहा:[75]

सोलहवीं सदी के विजेताओं द्वारा लैटिन अमरीकी देशों की लूट के बाद से दुनिया ने उस दिशा में ऐसा लूट का प्रवाह कभी नहीं देखा जैसा कि हम आज देख रहे हैं।

इस प्रकार, वैश्वीकरण के इस दौर में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों की औपनिवेशिक काल के दौरान की लूट जारी है, जिसको वर्णित करते हुए एडुआर्डो गैलियानो ने लिखा था कि वह "नसों के एक सेट से दूसरे में रक्त पंप करना" जैसा है। वही आज भी हो रहा है। इस वजह से मुख्यधारा के अर्थशास्त्रियों द्वारा इन देशों के लिए प्रयुक्त संज्ञा — विकासशील देश — सही नहीं है, क्योंकि ये वास्तव में विकास नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि हमने इस पुस्तिका में इन देशों को 'अल्पविकसित देश' या 'आश्रित देश' कहकर वर्णित किया है।

आज़ादी प्राप्त करने के बाद 1950 और 1960 के दशक में इन देशों की जनता ने जो भी उपलब्धियां हासिल की थीं, वो आज वैश्वीकरण के नाम पर उनसे छीनी जा रही हैं। एसएपी के तहत इन देशों पर जो शर्तें थोपी गई हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण शर्त यह है कि इनकी सरकारों को अपने सामाजिक क्षेत्र के खर्चों में भारी कटौती करनी होगी और इन सेवाओं का निजीकरण करना होगा। नतीजतन, इन देशों की सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य व्यवस्थाओं का ह्रास हुआ है, गरीबी बढ़ी है और बेरोज़गारी आसमान छू रही है।

एकाधिकारी कॉर्पोरेशन्स बन गए बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशन्स

हमने ऊपर विकसित पूंजीवादी देशों में एकाधिकारी कॉर्पोरेशन्स के विकास के बारे में चर्चा की है। वैश्वीकरण का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा है कि इसने इन निगमों को अल्पविकसित देशों के बाजारों में प्रवेश करने का मौका दिया है। पश्चिमी कॉर्पोरेशन्स इतने विशालकाय हैं कि उनके साथ प्रतिस्पर्धा संभव ही नहीं है। लिहाज़ा, जब वे किसी अल्पविकसित देश में प्रवेश करते हैं, तो वे जल्दी ही स्थानीय निगमों को निगल जाते हैं (या स्थानीय निगम उनके कनिष्ठ भागीदार बन जाते हैं)। 1980 के दशक तक ये कॉर्पोरेशन्स सचमुच दैत्याकार हो चुके थे जिनकी भुजाएं दुनिया के हर एक देश में फैली थीं। इसीलिए अब इन्हें बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशन्स (Multinational Corporations, एमएनसी) कहा जाने लगा है।

दुनियाभर में अपनी गतिविधियों का विस्तार करते हुए, बहुराष्ट्रीय कंपनियां वैश्विक बाजार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए एक-दूसरे के साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा में भी लगी हुई हैं (जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, बड़े निगम आपस में मूल्य प्रतिस्पर्धा नहीं करते)। साथ ही, उनके पास अपने मुनाफे के लिए निवेश के अवसरों का अभाव है, जिसके चलते उनके पास भारी मात्रा में अधिशेष पूंजी है। तो वे इस पूंजी का उपयोग एक-दूसरे को खरीदने के लिए कर रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बीच तीव्र वैश्विक प्रतिद्वन्द्विता ने इस विलय उन्माद को और तेज कर दिया है। इसने कॉरपोरेट जगत में विलय और अधिग्रहण की एक लहर को जन्म दिया है, जिसका मूल्य खरबों डॉलर सालाना तक पहुंच गया है।

विश्व अर्थव्यवस्था में आए इन परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ है कि आज मुट्ठीभर बहुराष्ट्रीय निगम विश्व स्तर पर हर एक आर्थिक गतिविधि पर हावी हैं — चाहे वह ऑटोमोबाइल या सेमीकंडक्टर्स या दवाइयों का निर्माण हो, या फिर खुदरा व्यापार या यातायात या सूचना टेक्नॉलॉजी हो, या चाहे बैंकिग व वित्त हो, या चाहे बीज और कीटनाशक उत्पादन से लेकर गेहूं और चावल के उत्पादन तक कृषि के विभिन्न क्षेत्र हों। ध्यान दें कि हम यहां किसी देश-विशेष के किसी एक आर्थिक क्षेत्र पर चंद कम्पनियों के वर्चस्व की बात नहीं कर रहे हैं। हम बात कर रहे हैं विश्व स्तर पर उस आर्थिक क्षेत्र पर उनके वर्चस्व की। एक ही एमएनसी 20 या 50 या उससे भी ज़्यादा देशों में काम करती है और मुट्ठी भर अन्य एमएनसी के साथ मिलकर उस क्षेत्र-विशेष के वैश्विक उत्पादन पर हावी होती है। कुछ उदाहरण देखिए। आज पांच बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दुनिया के लगभग आधे मोटर वाहनों का उत्पादन करती हैं, और दस सबसे बड़ी कम्पनियां 70% का।[76] मात्र दो एमएनसी दुनिया के अधिकांश व्यावसायिक जेट सप्लाई करती हैं — बोईंग कंपनी और एयरबस इंडस्ट्री;[77] पांच कॉर्पोरेशन्स दुनिया के संगीत बाज़ार के 90% पर काबिज़ हैं;[78] और दुनिया के 10 सर्वोच्च सेमीकंडक्टर निर्माता इस क्षेत्र के वैश्विक उत्पादन में से आधे से अधिक के लिए जिम्मेदार हैं।[79]

वैश्वीकरण के चार दशकों में बहुराष्ट्रीय निगम इतने बड़े हो गए हैं कि अब तो वे अनेक देशों से भी बड़े हैं! गरीबी के विरुद्ध काम करने वाली परमार्थ संस्था ग्लोबल जस्टिस नाऊ द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि 2015 में विश्व में 100 सबसे बड़े आर्थिक निकायों में से 69 कॉर्पोरेशन्स थे (उनके कॉर्पोरेट टर्नओवर के आधार पर), और मात्र 31 देश थे (उनके सरकारी राजस्व के आधार पर)।[80]

ये दैत्याकार निगम विश्व अर्थव्यवस्था पर किस कदर हावी हैं, इसे मात्र इस आंकड़े के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है: दुनिया के सर्वोच्च 500 कॉर्पोरेशन्स की कुल आमदनी वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 35–40% के बराबर है।[81]

एमएनसी द्वारा अल्पविकसित देशों में उत्पादन का स्थानांतरण

जैसे-जैसे आश्रित देशों के विदेशी कर्ज़ की हालत बिगड़ी, वे अपनी अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी पूंजी को न्यौता देने के लिए ज़्यादा से ज़्यादा उतावले होने लगे।

बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशन्स तो हमेशा मुनाफा अधिकतम करने के अवसरों की घात में रहते हैं। विकसित देशों में श्रम की लागत अल्पविकसित देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इन निगमों को यह समझते देर न लगी कि यदि वे अपना उत्पादन विकसित से अल्पविकसित देशों में — यानी वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था के केंद्र से परिधि की ओर — स्थानांतरित कर दें, तो वे श्रम की लागत में इस अंतर का फायदा उठा सकते हैं और अपना मुनाफा और बढ़ा सकते हैं। अपनी अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश को आमंत्रित करने के लिए आश्रित देशों के उतावलेपन का फायदा उठाकर एमएनसी ने इन देशों में निवेश

करने के लिए अपनी शर्तें रखना शुरू कर दिया — उन्होंने मांग की कि ये देश अपने श्रम कानूनों और पर्यावरण सम्बंधी कानूनों को शिथिल करें, ताकि इन देशों में माल का उत्पादन कम से कम लागत पर किया जा सके। अल्पविकसित देशों ने चुपचाप ये मांगें स्वीकार कर ली हैं।

तो इसलिए, विकसित पूंजीवादी देशों — यूएसए, पश्चिमी यूरोप और जापान — की एमएनसी अपना उत्पादन बड़े पैमाने पर आश्रित देशों में स्थानांतरित कर रही हैं। 1980 में वैश्विक औद्योगिक रोज़गार में आश्रित देशों का हिस्सा 52% था, जो 2012 में बढ़कर 83% हो गया।[82]

गहराता अल्पविकास

पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशन्स द्वारा उत्पादन के इस भौगोलिक स्थानांतरण की वजह से अल्पविकसित देशों के लोगों के लिए रोज़गार के अवसरों में कोई सुधार नहीं आया है। कारण यह है कि एमएनसी जितनी नौकरियों का सृजन करती हैं, उससे कहीं अधिक नष्ट कर देती हैं। एक ओर तो अपनी टेक्नॉलॉजी के उच्च स्तर के चलते वे बहुत थोड़ी-सी नई नौकरियां पैदा करती हैं, वहीं दूसरी ओर, उनके इन अर्थव्यवस्थाओं में प्रवेश से स्थानीय उद्योग, विशेषतः लघु उद्योग, तबाह हो जाता है, जिसके चलते बड़े पैमाने पर नौकरियों का नुकसान होता है। परिणामस्वरूप, वैश्वीकरण के कारण अल्पविकसित देशों में बेरोज़गारी में भारी वृद्धि हुई है।

इतना ही नहीं, चूंकि एमएनसी इन देशों की सरकारों को अपने श्रम कानूनों को छिन्न-भिन्न करने पर विवश करती हैं, इसलिए इन दैत्याकार निगमों द्वारा निर्मित नौकरियां निहायत घटिया गुणवत्ता की होती हैं — मज़दूर एमएनसी के लिए कौड़ियों के भाव काम करने के लिए मजबूर होते हैं। कुछ उदाहरण देखिए:

- अंतरराष्ट्रीय वस्त्र उद्योग में लगभग सारा उत्पादन अल्पविकसित देशों में होता है। इस उद्योग में प्रति पोशाक प्रत्यक्ष श्रम लागत आम तौर पर अंतिम खुदरा मूल्य का 1–3% होती है! डोमिनिकन गणतंत्र में निर्मित एक कसीदेवाले लोगो युक्त स्वेटशर्ट में मज़दूरी का परिमाण उस शर्ट का यूएसए में अंतिम खुदरा मूल्य का मात्र 1.3% है। फिलिपाइन्स में निर्मित बुने हुए शर्ट में श्रम की लागत (फर्श पर्यवेक्षकों के वेतन सहित) 1.6% है। चीन, इंडोनेशिया, वियतनाम, कंबोडिया और बांग्लादेश में तो श्रम लागत इससे भी कम है।
- एक अलग किस्म का उदाहरण देखिए: 1996 में, नाइके के जूते के 52 घटक पांच अलग-अलग एशियाई देशों में उप-ठेकेदारों द्वारा बनाए जाते थे — दक्षिण कोरिया, चीन, इंडोनेशिया, थाईलैंड और वियतनाम। 1990 के उत्तरार्ध में यूएसए में नाइके के एक जोड़ी बास्केटबॉल जूतों का फुटकर मूल्य 149.50 डॉलर था; इसके उत्पादन में श्रम की कुल लागत मात्र 1% यानी 1.50 डॉलर थी।[83]

- **चीन में श्रमिकों की स्थिति:**

चीन व अन्य अल्पविकसित देशों के बीच अंतर यह है कि जहां अल्पविकसित देशों ने वैश्वीकरण की शर्तों के तहत अपनी अर्थव्यवस्थाओं को पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए खोला है, वहीं चीन ने यह स्वैच्छिक रूप से किया है। इसके बावजूद, पश्चिमी एमएनसी की चीन में स्थित फैक्ट्रियों में काम करने वाले श्रमिकों की भी वही स्थिति है, जो अन्य अल्पविकसित देशों में है। बल्कि शायद उन देशों से बदतर है। चीन में श्रम कानून इतने ढीले-ढाले हैं कि एमएनसी चीन में मज़दूरों से प्रतिदिन 14–16 घंटे काम करवा सकती हैं; न किसी साप्ताहिक अवकाश का प्रावधान है और न ही कोई ओवरटाइम मिलता है। चीन में मज़दूरियां यूएसए में प्रचलित मज़दूरियों का मात्र 4% और युरोपीय संघ का मात्र 3% हैं।[84] यही कारण है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने बहुत बड़े पैमाने पर चीन में अपना उत्पादन स्थानांतरित किया है।

चीन में श्रमिकों की स्थिति समझने के लिए चीन में ग्वांग्डोंग प्रांत में डोंगगुआन शहर में स्थित माइताई प्लास्टिक्स एंड इलेक्ट्रॉनिक्स फैक्टरी का उदाहरण देखिए।

यहां 2,000 मज़दूर, अधिकांश महिलाएं, माइक्रोसॉफ्ट, आईबीएम, हेवलेट पैकार्ड और डेल के लिए की-बोर्ड्स और कंप्यूटर उपकरण असेंबल करते हैं। ये युवा मज़दूर, अधिकांश तीस वर्ष से कम उम्र के, सख्त स्टूल पर बैठकर अपना काम करते हैं। कंप्यूटर की-बोर्ड असेंबली लाइन पर धीरे-धीरे आगे सरकते जाते हैं, प्रति 7.2 सेकंड में एक की-बोर्ड, प्रति घंटे 500; हर मज़दूर को हरेक की को सही जगह बैठाने के लिए मात्र 1.1 सेकंड का समय दिया जाता है। यह क्रिया उन्हें हर घंटे 3,250 बार दोहरानी होती, यानी प्रतिदिन 35,750 बार, और एक महीने में लाखों बार। ये मज़दूर सप्ताह के सातों दिन 12 घंटे की शिफ्ट में काम करते हैं और उन्हें महीने में मात्र 2 दिन का अवकाश मिलता है। काम के दौरान किसी अन्य मज़दूर से बात करने पर आधे दिन का वेतन कट सकता है।

माइताई के मज़दूरों को फैक्टरी द्वारा फैक्टरी परिसर में दी गई डॉर्मिटरी में ही रहना होता है। डॉर्मिटरी के हर एक कमरे में 14 मज़दूर रहते हैं और संकरे पलंगों पर सोते हैं। उन्हें तौलिया स्नान के लिए एक प्लास्टिक की छोटी बाल्टी दी जाती है जिसमें गर्म पानी भरकर सीढ़ियों से कई मंजिलें ऊपर ले जाना होता है। उन्हें फैक्टरी और डॉर्मिटरी की सफाई का काम भी अनिवार्य रूप से करना होता है, जिसके लिए कोई भुगतान नहीं किया जाता। भोजन में चावल का पनीला पेज मिलता है, और शुक्रवार के दिन दावत के रूप में उन्हें मुर्गे की टांग दी जाती है। ऐसे भोजन और कमरे के लिए उनका 35% वेतन काट लिया जाता है।[85]

इस प्रकार, पश्चिमी एमएनसी द्वारा उत्पादन को पूंजीवादी देशों से आश्रित देशों में स्थानांतरित करने से देशों के इन दो समूहों के बीच सम्बंध बिलकुल नहीं बदले हैं —

इसके विपरीत, इसने आश्रित देशों के अल्पविकास को और तल्ख कर दिया है और उनकी अर्थव्यवस्थाओं को विकसित पूंजीवादी देशों पर और भी अधिक निर्भर बना दिया है।

आश्रित देशों में जितना अधिक पूंजी अंतर्प्रवाह होता है, उतना ही अधिक लाभ बहिर्वाह होता है। जैसे-जैसे आश्रित देशों से वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी केंद्रों को मुनाफे का बहिर्वाह बढ़ता गया है, विकसित देशों और उनके कॉर्पोरेशन्स ने एक बार फिर अपने भूतपूर्व उपनिवेशों के बाज़ारों तथा कच्चे माल के संसाधनों पर निर्णायक नियंत्रण हासिल कर लिया है। 'विश्व अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण' का आज दुनियाभर के सरकारी बुद्धिजीवी और अर्थशास्त्री महिमामंडन कर रहे हैं — लेकिन उसकी वास्तविक अंतर्वस्तु यह है।

दरअसल, पूंजीवाद के वैश्विक विस्तार के इस नवीनतम चरण में कोई नई बात नहीं है। वैश्वीकरण दरअसल पूंजीवादी विस्तारवाद का महज तीसरा चरण है। पहला चरण था अमरीकी महाद्वीप पर फतह और अफ्रीकी लोगों की गुलामी, और दूसरा चरण था औद्योगिक क्रांति तथा एशिया व अफ्रीका की औपनिवेशिक अधीनता।

वैश्वीकरण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियां और वैश्विक बेरोज़गारी

पूंजीवाद के वैश्विक विस्तार के इस नए दौर में, मुट्ठी भर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विश्व अर्थव्यवस्था पर हावी हैं और भारी मुनाफा कमा रही हैं। इन विशालकाय निगमों के पास इतनी अधिक पूंजी है कि ये श्रम-बचत की नवीनतम प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करके बहुत कम मज़दूर लगाकर भारी मात्रा में उत्पादन कर सकती हैं। लिहाज़ा, बहुराष्ट्रीय कम्पनियां बहुत कम रोज़गार पैदा करती हैं। 2018 में दुनिया की 500 सबसे बड़ी एमएनसी (इन्हें 'फॉर्च्यून ग्लोबल 500' के नाम से जाना जाता है) ने 327 खरब डॉलर की कमाई की, जो विश्व जीडीपी के 38.5% के बराबर था। इसके बावजूद, उन्होंने दुनिया भर में मात्र 6.93 करोड़ मज़दूरों को काम दिया, जो वैश्विक श्रम बल का महज 2% है।[86]

यही वह प्रमुख कारण है जिसकी वजह से विश्व स्तर पर बेरोज़गारी चौंकाने वाल स्तर पर पहुंच गई है। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ की एक संस्था) द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के मुताबिक, 2018 में वैश्विक श्रम बल में करीब 361.74 करोड़ लोग थे। इनमें थे:

- कुल नियुक्त कामगार (अंशकालिक समेत) = 181.73 करोड़
- कुल बेरोज़गार कामगार (पिछले कुछ सप्ताह में काम की तलाश करने वालों के रूप में परिभाषित) = 17.25 करोड़
- अतिसंवेदनशील (vulnerable) रोज़गारों में नियुक्त कुल कामगार (यानी अर्ध-बेरोज़गार), खास तौर से गरीब देशों में, जिन्होंने बेरोज़गारी भत्ते के अभाव में, जो भी नौकरियां/काम उपलब्ध हैं, उन्हें लिया है) = 148.74 करोड़

इसके अलावा हैं:

- आर्थिक रूप से निष्क्रिय कामगार = 13.96 करोड़[87]

कुल नियुक्त कामगारों में से एक बड़ी संख्या अंशकालिक रोज़गार प्राप्त लोगों की है, जिन्हें अतिसंवेदनशील रोज़गारों में नियुक्त कामगारों की संख्या में गिना जाना चाहिए। लेकिन हमारे पास अलग-अलग आंकड़े नहीं हैं, इसलिए इन्हें रोज़गारशुदा मान लेते हैं। 2018 में कुल रोज़गारशुदा कामगारों की संख्या 181.7 करोड़ थी। दूसरी ओर, अतिसंवेदनशील रोज़गार वाले लोग वास्तव में अर्ध-बेरोज़गार हैं; वे अनौपचारिक क्षेत्र में जो भी काम मिला उसे करने लगे हैं। आर्थिक रूप से निष्क्रिय लोगों को तो बेरोज़गारों में ही गिना जाना चाहिए; वे काम करना चाहते हैं, रोज़गार की भयावह स्थिति के कारण उन्होंने हताश होकर काम की तलाश छोड़ दी है। बेरोज़गार, अतिसंवेदनशील रोज़गार वाले लोग, और निरुत्साहित कामगारों की कुल संख्या 179.95 करोड़ है — जो दुनिया के श्रम बल का 49.7% या लगभग आधी है। यानी वैश्विक बेरोज़गारी + अर्ध-बेरोज़गारी की दर लगभग 50% है! पूंजीवाद के वैश्वीकरण नामक नवीनतम चरण में यह है बेरोज़गारी का स्तर।

भौंडी वैश्विक गैर-बराबरी

पूंजीवाद गैर-बराबर विकास की प्रणाली है। एकाधिकारी पूंजीवाद ने इस गैर-बराबरी को और गहरा किया है। और वैश्वीकरण तथा वैश्विक एकाधिकारी पूंजीवाद ने इस गैर-बराबरी की इंतहा कर दी है।

पूंजीवाद तथा एकाधिकारी पूंजीवाद ने इतनी संपदा पैदा की है कि पूरी मानव जाति को भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य प्रदान किए जा सकता है, दुनिया के सारे लोगों की बुनियादी ज़रूरतें पूरी की जा सकती हैं। और फिर भी, पूंजीवाद के अंतर्निहित तर्क की वजह से, 3.4 अरब लोग (विश्व जनसंख्या का 46%) गुज़ारा करने की जद्दोजहद में फंसे हैं — ये लोग प्रतिदिन 5.50 डॉलर (विश्व बैंक की 2018 की गरीबी रेखा) से भी कम कमाते हैं। चौंकाने वाली बात यह है कि इनमें से 1.9 अरब लोग — वैश्विक आबादी का एक चौथाई — गंभीर गरीबी में जी रहे हैं, प्रति दिन 3.20 डॉलर से भी कम पर।[88]

वर्णक्रम के दूसरे छोर पर, दुनिया के 1% सबसे अमीर लोग वैश्विक संपदा के 50% से भी ज्यादा के मालिक हैं, अर्थात इनके पास शेष 99% लोगों से ज़्यादा संपत्ति है। इन लोगों की संपदा 1,800 खरब डॉलर से ज़्यादा है![89] और दुनिया की 82% संपदा सर्वोच्च 10% लोगों के पास है। और तो और, अमीरों के बीच भी संपदा का संकेंद्रण शीर्ष पर होता जा रहा है। 2019 में दुनिया के 2,153 अरबपतियों के पास विश्व की सबसे निचली 60% आबादी (4.6 अरब लोग) से ज़्यादा संपदा थी।[90]

आर्थिक विकास के विशेषज्ञ माने जाने वाले जेफरी सैक्स ने 2005 में गणना की थी कि यदि दुनिया के रईस देश गरीब देशों में अगले 20 वर्षों तक प्रति वर्ष 175 अरब डॉलर का निवेश करें — स्थानीय खेतों में, बच्चों और व्यस्कों की शिक्षा में, स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार और उपलब्धता बढ़ाने में और अक्षय ऊर्जा स्रोतों के दोहन में — तो विश्व में

अत्यधिक गरीबी को समाप्त करना संभव है। सैक्स ने अपनी गणना के लिए 2002 की कीमतों को आधार बनाया था; उनकी गणना को अद्यतन करें, तो आज अत्यधिक गरीबी को समाप्त करने के लिए प्रति वर्ष लगभग 400 अरब डॉलर का निवेश करना होगा।[91] संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 2015 में की गई एक अन्य गणना के अनुसार, सारे निम्न व निम्न-मध्यम आमदनी वाले देशों में पानी व शौच व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और कृषि तथा खाद्य सुरक्षा के संधारणीय विकास लक्ष्य (sustainable development goals) हासिल करने के लिए प्रति वर्ष 453 अरब डॉलर के सार्वजनिक निवेश की ज़रूरत होगी।[92] विश्व के अमीरतम 1% लोगों पर मात्र 0.25% संपत्ति कर लगाकर इन दोनों निवेशों में से किसी एक के लिए पर्याप्त धन (450 अरब डॉलर) हासिल किया जा सकता है और विश्व में अत्यधिक गरीबी समाप्त की जा सकती है।

तो फिर दुनिया की सरकारें ऐसा क्यों नहीं कर रही हैं? दुनिया के सब लोगों के पास समुचित, संतोषदायक जीवन के साधन सुनिश्चित करने के लिए वे उचित कदम क्यों नहीं उठा रही हैं? ऐसा इसलिए है क्योंकि शासन तो वे हमारे नाम पर करती हैं, लेकिन वास्तव में ये सारी सरकारें पूंजीपति वर्ग की कृतज्ञ हैं। और पूंजीवाद का लक्ष्य ही है ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफा कमाना, मुनाफे को अधिकतम करना। यह पूंजीवाद में निहित है कि एक ध्रुव पर पूंजी का संग्रह होता है, तो विपरीत ध्रुव पर तंगहाली, मेहनत की पीड़ा, अज्ञानता, निर्ममता और मानसिक क्षय का संग्रह होता है। दुनिया से गरीबी, बदहाली और बेरोज़गारी को समाप्त करने के लिए हमें एकजुट होकर लड़ना पड़ेगा — पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए, और उसकी जगह एक वैकल्पिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए जो आम लोगों की खुशहाली के लिए उन्मुख हो।

कोरोना महामारी के दौरान असमानता बढ़ी

विश्व में फैल रही कोरोना महामारी ने पूंजीवादी व्यवस्था की क्रूरता को अपनी पूरी नग्नता में उजागर कर दिया है। गरीबों के लिए, महामारी के आर्थिक और मानवीय परिणाम वायरस से भी बदतर साबित हो रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट *विश्व में खाद्य सुरक्षा और पोषण की स्थिती* के 2020 संस्करण का अनुमान है कि दुनियाभर में महामारी के कारण हुए आर्थिक पतन के चलते कम से कम 8.3 करोड़ अतिरिक्त लोग, और संभवतः 13.2 करोड़ लोग, भूखमरी का शिकार होंगे। ऑक्सफैम का कहना है कि महामारी से जुड़ी भूख से हर दिन 12,000 लोगों की मौत हो सकती है, जो कि वायरस से रोजाना मरने वालों की संख्या से अधिक है।[93] दूसरी ओर, इस दौरान दुनिया के अरबपतियों को बहुत फायदा हुआ है: उनकी संख्या बढ़कर 2,189 हो गई, और उनकी कुल संपत्ति मात्र 4 महीनों — अप्रैल से जुलाई 2020 — में 27% से बढ़कर 102 खरब डॉलर के रिकॉर्ड उच्च स्तर पर पहुंच गई।[94]

4. भारत में बेरोज़गारी

1. औपनिवेशिक लूट, अल्प-विकास और बेरोज़गारी

अठारहवीं सदी तक भारतीय उपमहाद्वीप दुनिया के सबसे विकसित क्षेत्रों में से था। लैटिन अमेरिका और अफ्रीका की बर्बर लूट से प्राप्त धन से वित्तपोषित औद्योगिक क्रांति के दम पर यूरोप बराबरी करने लगा और ज़्यादा विकसित हो गया। इसने यूरोप को भारत को उपनिवेश बनाने और लूटने में सक्षम बनाया। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने ही भारत को नष्ट किया और इस संपन्न सभ्यता को दुनिया के निर्धनतम देशों में से एक बना दिया।

यह बात हमारे कई पाठकों को आश्चर्यजनक लगेगी, जो भारत के अतीत के बारे में हिंदू कट्टरपंथियों के प्रचार पर यकीन करने लगे हैं। ये उत्तर मध्ययुग (करीब 1200 ईस्वीं से 1700 ईस्वीं तक की अवधि, अर्थात दिल्ली सल्तनत से लेकर मुगल साम्राज्य का दौर) को अंधकार युग बताते हैं, जिसके दौरान, उनके मुताबिक, मुसलमान राजाओं ने भारत को लूटा, बड़े पैमाने पर हिंदुओं का संहार किया, हज़ारों मंदिरों को तोड़ा, वगैरह।

इतिहास का यह कपटी चित्रण, जो दर्शाता है कि मध्ययुगीन भारत मुसलमान राजाओं के निरंकुश शासन के अधीन था जिन्होंने हिंदुओं पर भयानक अत्याचार किए, सबसे पहले 19वीं शताब्दी की शुरुआत में अंग्रेजों द्वारा 'निर्मित' किया गया था। इसने उनको भारत के औपनिवेशीकरण का औचित्य प्रदान किया — कि वे हिंदुओं को मुस्लिम अत्याचार से मुक्त कराने आए थे। हिंदू कट्टरपंथियों ने इस विकृत औपनिवेशिक इतिहास को अपना लिया है और बेशर्मी से इसका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं क्योंकि इससे उन्हें धर्मनिरपेक्ष भारत को एक हिंदू राष्ट्र में तबदील करने के अपने एजेंडा को क्रियांवित करने हेतु सामाजिक माहौल बनाने में मदद मिलती है।

ऐतिहासिक तथ्यों के गहरे और कठोर वैज्ञानिक विश्लेषण के माध्यम से स्वतंत्र भारत के इतिहासकारों ने इतिहास के इस कट्टरपंथी वर्णन को पूरी तरह से झूठा साबित किया है। वास्तविकता यह है कि मध्यकाल में भारत में इस्लाम व मुसलमानों के आगमन के साथ भारतीय उपमहाद्वीप की विविध देशज संस्कृतियों का इस्लामी संस्कृति से मेलजोल हुआ। एक नई समन्वयात्मक संस्कृति का जन्म हुआ जिसके चलते कला, साहित्य, संगीत, वास्तुकला, चित्रकारी और शिल्प में बहुत प्रगति हुई। दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य के राजाओं द्वारा अपनाई गई धार्मिक सहिष्णुता ने इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। यही दौर भक्ति आंदोलन के जन्म का भी गवाह रहा, जिसे कई विद्वानों ने भारतीय रिनेसां (पुनर्जागरण) कहा है। इसमें कबीर, नानक, बासव और तुकाराम जैसे विचारक सामंती सामाजिक व्यवस्था (जाति व्यवस्था, सामाजिक ऊंच-नीच और यहां तक कि व्यक्ति पर धर्म की सत्ता) पर सवाल उठा रहे थे। ये विचारक हाशिए की आवाज़ें नहीं थे बल्कि व्यापारियों और दस्तकारों जैसे शक्तिशाली समूहों की आवाज़ थे।[95]

इस सामाजिक–सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ काफी आर्थिक तरक्की भी हुई। मुगल साम्राज्य के काल में, भारत मैन्यूफेक्चरिंग के मामले में विश्व में अग्रणि था, और लगभग 18वीं सदी के मध्य तक औद्योगिक वस्तुओं में दुनिया का एक-चौथाई का उत्पादन करता था।[96] अमेरिकन एकेश्वरवादी पादरी जे.टी. संडरलैंड ने भारत के 'विशाल व विविध उद्योगों' द्वारा निर्मित संपदा का विवरण सुंदर शब्दों में किया है:

> सभ्य दुनिया को ज्ञात लगभग हर तरह का मैन्यूफेक्चर या उत्पाद — मनुष्य के दिमाग और हाथों की लगभग हर किस्म की कृति, कहीं भी विद्यमान, और अपनी उपयोगिता या सौंदर्य के लिए जानी जाने वाली — भारत में लंबे समय से उत्पादित की जाती रही है। भारत यूरोप अथवा एशिया के अन्य किसी भी राष्ट्र से बड़ा औद्योगिक व मेन्यूफेक्चरिंग राष्ट्र था। उसके वस्त्र उत्पाद — सूत, ऊन, लिनेन व रेशम में उसके करघों के परिष्कृत उत्पाद — सभ्य दुनिया में मशहूर थे; यही हाल उसके उत्कृष्ट आभूषणों और रत्नों का भी था जिन्हें हर तरह के सुंदर रूपों में तराशा जाता था; यही हाल उसके मिट्टी के बर्तन, चीनी मिट्टी के बर्तन और हर तरह के सेरेमिक का था, जो विविध प्रकार के, गुणवत्ता, रंग और सुंदर आकृतियों के होते थे; धातुओं — लोहे, इस्पात, चांदी और सोने — के बारीक काम में भी यही स्थिति थी।
>
> उसके पास महान स्थापत्य था — सुंदरता में दुनिया में किसी के भी टक्कर का। उसके पास महान यांत्रिकी कारखाने थे। उसके पास महान सौदागर, महान व्यापारी, महान बैंकर्स और वित्तदाता थे। वह न सिर्फ सबसे महान जहाज़ निर्माता था, बल्कि ज़मीन और समुद्र के ज़रिए उसका विशाल व्यापार और वाणिज्य भी था, जो सारे ज्ञात सभ्य देशों तक फैला हुआ था। ऐसा था भारत जो ब्रिटिशों को आगमन के समय मिला।[97]

17वीं–18वीं सदी में भारतीय उद्योग के विकास का एक उदाहरण देखिए। जहाज़ निर्माण में (टन भार के हिसाब से) देखें तो अकेले बंगाल का वार्षिक उत्पादन 22,32,500 टन के आसपास था, जो डच (4,50,000–5,50,000 टन), ब्रिटिश (3,40,000 टन) और उत्तरी अमेरिका (23,061 टन) के कुल उत्पादन से अधिक था।[98]

दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य की अवधि में इस विकास का कारण यह था कि ये मुसलमान राजा भारत को उपनिवेश बनाने और लूटने के लिए नहीं आए थे। वे यहीं बस गए, स्थानीय संस्कृति में घुल-मिल गए जिसने एक खूबसूरत मिली-जुली संस्कृति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया, और भारत के विकास में योगदान दिया, जिसने भारत को दुनिया के सबसे समृद्ध क्षेत्रों में बना दिया।

इस समृद्ध सभ्यता को ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने तबाह कर दिया। ब्रिटिश भारत को उपनिवेश बनाने के लिए आए थे, इसलिए उन्होंने भारतीय राजाओं को युद्ध में परास्त

करने के बाद व्यवस्थित रूप से भारत को लूटा। उन्होंने जानबूझकर हमारे उन्नत उद्योगों को नष्ट किया। उन्होंने हमारे फलते-फूलते शहरों को तबाह कर उन्हें निर्जन कर दिया। इससे कृषि पर निर्भर जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, जो पहले से ही उच्च करों के बोझ से दबी थी। भयानक अकाल पड़े — एक ऐसे देश में जहां की ज़मीन दुनिया की सबसे उपजाऊ ज़मीनों में से है। 1769–70 के अकाल में बंगाल की एक-तिहाई आबादी यानी 50 लाख लोगों ने भूख से तड़पकर अपनी जान गंवाई; 1770 से 1890 की 120 साल की अवधि में ऐसे और 20 बड़े-बड़े अकाल पड़े और यह सिलसिला 1943 के बंगाल के महा-अकाल तक चलता रहा जिसने 40 लाख लोगों की जान ली थी।[99]

ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी, औपनिवेशिक लूट की यह विरासत भारत के विकास में बाधक बनी रही है। ऐसा इसलिए क्योंकि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने न केवल भारत में हो रही देशज प्रगति को नष्ट कर दिया था — जिससे हम कई सदियों पीछे धकेल दिए गए — उन्होंने हमें पंगु भी कर दिया। उन्होंने हमारी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अपनी विकास आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला। उन्होंने हमारे लोगों को हुनरविहीन कर दिया, जो एक समय पर अपने निर्माण कौशल के लिए दुनिया भर में मशहूर थे। उन्होंने हमारी सुंदर मिली-जुली संस्कृति को नष्ट किया और एक ऐसा समाज छोड़ गए जो आज तक सांप्रदायिक विभाजन से ग्रस्त है। और तो और, उन्होंने जाति व्यवस्था की तीव्रता और विस्तार को और बढ़ाने का भी काम किया।[100]

200 सालों के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कारण हमारी विकास क्षमता में जो पंगुता पैदा हुई थी, वह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आज़ाद भारत के नेताओं द्वारा लागू किए गए विकास मॉडल की विफलता के सबसे महत्वपूर्ण कारणों में से एक है। इस असफलता का एक परिणाम था बेरोज़गारी में वृद्धि।

- भारत के बेरोज़गारी के संकट का यह पहला कारण है — ब्रिटिश औपनिवेशिक लूट के कारण हमारी विकास क्षमता का पंगु होना।

2. नेहरू मॉडल, पूंजीवाद और बेरोज़गारी

अंतत: जब 1947 में भारत स्वतंत्रता हासिल करके प्रजातांत्रिक गणतंत्र बना, तब तक दो सदियों के औपनिवेशिक लूट के कारण यह दुनिया के सबसे गरीब देशों में शुमार हो चुका था।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के नेता, महात्मा गांधी, चाहते थे कि भारत विकेन्द्रीकृत विकास के मार्ग का अनुसरण करे जो लोगों को राजनीतिक और आर्थिक दोनों रूपों से सशक्त बनाएगा। चूंकि भारत के अधिकांश लोग गांवों में रहते थे, गांधी चाहते थे कि देश के नेता एक ऐसा विकास मॉडल अपनाएं जो गांवों के विकास पर केंद्रित हो, जिसका जोर कृषि को पुनर्जीवित करने और ग्राम-आधारित उद्योगों के विकास पर हो — ये दोनों भारत

के करोड़ों लोगों को लाभदायक रोज़गार प्रदान करने के लिए अनिवार्य हैं।[101]

लेकिन नेहरू के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत के नेताओं ने गांधी की सलाह को अनसुना कर दिया। नेहरू भारत का तेजी से औद्योगीकरण करना चाहते थे — उनके अपने शब्दों में, "एक छोटी अवधि में, शायद दस या पंद्रह सालों में"। लेकिन इसके लिए वे ऐसा रास्ता नहीं अपनाना चाहते थे जो पूंजीवाद को बढ़ावा दे और एक ऐसे समाज को अस्तित्व में लाए जहां भूमि और पूंजी पर कुछ लोगों का एकाधिकार हो, और बहुसंख्यक आबादी "अस्तित्व के कगार पर रहे"। नेहरू का झुकाव समाजवाद की ओर था। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जहां आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक न्याय और समानता हो। इसलिए वे सोवियत संघ की 'नियोजित अर्थव्यवस्था' के मॉडल से सबक लेते हुए भारत का औद्योगीकरण करना चाहता था। लेकिन उनकी विकास के सोवियत मॉडल के बारे में आपत्तियां भी थीं और वे पूरी तरह से नियंत्रित अर्थव्यवस्था का निर्माण नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि यह सत्तावाद और अधिनायकवाद को बढ़ावा देता है। इसलिए उन्होंने एक ऐसे मॉडल की पैरवी की जो दोनों व्यवस्थाओं का संश्लेषण था, जिसे उन्होंने 'मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल' का नाम दिया। इसमें जहां बुनियादी व रणनीतिक उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित होंगे, वहीं उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन व वितरण निजी क्षेत्र के लिए खुला रखा जाएगा। उन्हें इन दोनों क्षेत्रों (निजी व सार्वजनिक) के बीच कोई विरोधाभास नज़र नहीं आता था। नेहरू के हिसाब से, उनके आर्थिक विकास के मॉडल में सबसे महत्वपूर्ण 'समाजवादी' तत्त्व नियोजित अर्थव्यवस्था था। इसके लिए मार्च 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई, और 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन हुआ। दोनों के अध्यक्ष स्वयं प्रधानमंत्री थे।[102]

नियोजित अर्थव्यवस्था की नेहरू की दृष्टि को छोड़ दें, तो उनके आर्थिक मॉडल के अन्य ज़रूरी घटक — सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्रों की उपस्थिति, 1948 व 1956 के औद्योगिक नीति संकल्प तथा विदेशी पूंजी के अंतर्प्रवाह पर पाबंदियां — 'बॉम्बे प्लान' के प्रस्तावों से बहुत मेल खाते थे। यह योजना जे.आर.डी. टाटा और जी.डी. बिड़ला के नेतृत्व में भारतीय पूंजीपतियों ने 1944–45 में प्रस्तावित की थी।[103] दूसरे शब्दों में, भारतीय पूंजीपति भी चाहते थे कि नेहरू सरकार: (i) 'मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल' को लागू करे; और (ii) विदेशी पूंजी पर पाबंदियां लगाए और नवजात भारतीय उद्योग को संरक्षण दे। हालांकि आजकल व्यवस्थापरस्त बुद्धिजीवी इन दोनों नीतियों की बहुत निंदा कर रहे हैं, लेकिन तथ्य यह है कि भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद के वर्षों में जो हालात थे, उसमें भारतीय पूंजीपति भी इन नीतियों के समर्थक थे — उन्हें लग रहा था कि देश में पूंजीवादी विकास को सुगम बनाने का यही सर्वोत्तम तरीका है। उनकी सोच के पीछे ऐतिहासिक औचित्य था — जैसा कि हमने पहले चर्चा की है, सारे विकसित देशों ने अपने पूंजीवादी विकास के शुरुआती दौर में ऐसी ही नीतियां अपनाई थीं।

हो सकता है कि नेहरू को लगा हो कि जब योजना आयोग अर्थव्यवस्था की दिशा

तय करेगा और अधोरचना क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र में रहेंगे, तो पूंजीवादी विकास प्रतिबंधित होगा और अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे समाजवाद की ओर बढ़ेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना को वास्तव में समाजवादी योजना कहा गया था, और लोक सभा ने तो दिसंबर 1954 में एक प्रस्ताव भी पारित किया था जिसमें कहा गया था कि सरकार की आर्थिक नीतियों का लक्ष्य समाजवाद की प्राप्ति है। पीछे मुड़कर देखें, तो स्पष्ट है कि नेहरू गलत थे और भारतीय पूंजीपति पूंजीवाद की कहीं बेहतर समझ रखते थे।

1947 में भारतीय पूंजीपतियों ने ज़्यादा पसंद किया कि रेल्वे, सड़कें, तेल, दूरसंचार, भारी मशीनरी और बिजली जैसे आधारभूत उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए जाएं, क्योंकि उनके पास इन उद्योगों को स्थापित करने के लिए न तो ज़रूरी पूंजी थी और न ही तकनीक, और वे जानते थे कि इन उद्योगों के विकास के बगैर अन्य उद्योगों का विकास संभव नहीं है। इसके अलावा, अधोरचना क्षेत्र की परियोजनाओं के निर्माण की अवधि काफी लंबी थी लेकिन इन उद्योगों में निवेश पर मुनाफा कम था। पूंजीपतियों ने अपनी सीमित पूंजी को उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों में लगाने को वरीयता दी, जहां त्वरित मुनाफा कमाया जा सकता था। कुल मिलाकर यही था 'मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल' का सार। नेहरू की चाहत चाहे जो रही हो, उनके आर्थिक मॉडल ने भारत में समाजवाद की नहीं, पूंजीवाद के विकास की नींव रखी।

स्वयं नेहरू को अपने मॉडल की सीमाओं का भान

अपने अंतिम वर्षों में नेहरू को अपने आर्थिक मॉडल की सीमाओं और गांधी की बातों की ओर लौटने की ज़रूरत का भान होने लगा था। बताते हैं कि उन्होंने अपने एक मित्र से कहा था, 'हमें गांधीजी के विचारों की ओर लौटना चाहिए। हमें उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए था।'[104]

22 सितंबर 1963 के दिन 'विकासशील अर्थव्यवस्था में सामाजिक कल्याण' विषय पर एक सेमीनार में उन्होंने अपने विचारों को विस्तारित किया, "मेरा दिमाग इस समस्या से जद्दोजहद कर रहा है कि भारत के 5,50,000 गांवों और वहां रहने वालों के बारे में क्या किया जाए। ... अंतत: पूरा मामला देश में आम जीवन स्तर को बेहतर करने की दृष्टि से नियोजन का है। ... भारत में प्रमुख समस्या आज भी कृषि सम्बंधी है। यदि हम मात्र उत्पादन के लिहाज़ से देखें, तो भारत के सारे बड़े व महत्वपूर्ण उद्योग कृषि के जितने महत्वपूर्ण नहीं हैं। ... गांधीजी ने जो किया वह मूल रूप से सही था। वे सदैव भारत के गांवों की ओर देखते थे, हर मायने में भारत के सबसे पिछड़े लोगों की ओर देखते थे, और उन्होंने एक चीज़ को विकसित किया। बात सिर्फ चरखे की नहीं है; वह तो एक प्रतीक मात्र था। उन्होंने ग्रामीण उद्योगों पर ज़ोर दिया था ...।"

कुछ महीने बाद, 11 दिसंबर 1963 के दिन, संसद में नियोजन पर बहस का जवाब देते हुए नेहरू ने एक बार फिर गांधी के ग्राम-आधारित उद्योगों पर ज़ोर से सीखने की बात

कही।[105]

अलबत्ता, नेहरू को यह भान बहुत देर से हुआ। वे 1964 में सिधार गए।

भारत में पूंजीवादी विकास की सीमाएं

पश्चिम की औद्योगिक क्रांतियों को दोहराना भारत के लिए संभव ही नहीं था। जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, पूंजीवाद एक वैश्विक व्यवस्था है; नहीं, यह गैर-बराबर विकास की एक वैश्विक प्रणाली है। पश्चिमी देशों ने अपनी औद्योगिक क्रांतियों का गर्भाधान औपनिवेशिक लूट से किया था: उपनिवेशों की संपदा और बाज़ार ने औद्योगिक क्रांतियों के लिए शुरुआती प्रोत्साहन प्रदान किया था, और फिर जब औद्योगिक क्रांतियां आगे बढ़ीं तो उपनिवेशों ने उनके लिए ज़रूरी कच्चा माल और बाज़ार उपलब्ध कराए। जैसे-जैसे पूंजीवाद ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश करता गया, उपनिवेशों ने गांवों से विस्थापित अधिशेष किसान आबादी को अवशोषित करने में भी मदद की — अनुमान है कि 1820–1915 की अवधि में लगभग 5 करोड़ लोग यूरोप से 'नई दुनिया' उत्प्रवास किए।[106]

इसके विपरीत, जब भारत ने अपनी औद्योगिक क्रांति आरंभ की, तब उसके पास लूटने के लिए कोई उपनिवेश तो नहीं ही था, उसकी अपनी अर्थव्यवस्था दो सदियों की ब्रिटिश लूट के कारण तबाह और पंगु हो चुकी थी।

इसलिए, नेहरू की अगुआई में भारत के नेताओं तथा बिड़ला व टाटा जैसे हमारे अग्रणी पूंजीपतियों द्वारा भारत को पश्चिमी पूंजीवादी देशों की तर्ज़ पर तेज़ी से औद्योगीकृत करने का प्रयास असफल होना ही था। और यही हुआ भी।

इन अड़चनों के बावजूद भारत में जितना पूंजीवादी विकास संभव था, उसका भी दम घुट गया क्योंकि स्वतंत्र भारत के नेता शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण और लैंगिक समानता में निवेश करके लोगों को सशक्त बनाने में असफल रहे। ऐसा होता तो लोगों की निहित क्षमता खुलकर सामने आ जाती। 1960 व 1970 के दशक में पूर्वी एशियाई देशों के त्वरित विकास का एक महत्वपूर्ण कारण (यूएसए द्वारा भू-राजनैतिक कारणों से प्रदत्त सहायता के अलावा) यह था कि उनकी सरकारों ने अपने लोगों को कल्याणकारी लाभ प्रदान करने में भारी निवेश किया था।[107]

समाजवाद के निर्माण के नेहरू के प्रयासों के बावजूद, कांग्रेस की मजबूत दक्षिणपंथी लॉबी ने सुनिश्चित किया कि मध्ययुगीन पिछड़ेपन के उन्मूलन का कोई संजीदा प्रयास न हो पाए। धार्मिक पिछड़ापन, जातिवाद और पितृसत्ता आम लोगों की सृजनात्मक शक्तियों को बाधित करते रहे। सीमित भूमि-सुधार किए गए; कृषि व सम्बंधित ग्रामीण उद्योगों के विकास पर सीमित ध्यान दिया गया; खेतिहर लोगों की बड़ी संख्या घोर गरीबी में डूबी रही। इसने देहातों में बाज़ार के विकास को बाधित किया। बड़े उद्योगों के विकास पर ज़ोर के कारण, औद्योगिक विकास ने इतना रोज़गार पैदा नहीं किया कि मांग में उल्लेखनीय वृद्धि हो।

1960 के दशक के अंत तक नेहरू मॉडल संकट में था। जैसे कि हमने ऊपर बताया

है, स्वयं नेहरू भारत के विकास के मॉडल की सीमाओं पर विचार करने लगे थे। लेकिन 1964 में उनका देहांत हो गया। उनके उत्तराधिकारी निजी पूंजी के निर्लज्ज हिमायती थे। इसलिए, नेहरू द्वारा उठाए गए सवालों पर विचार करने और दिशा परिवर्तन करने की बजाय उन्होंने 1970 व 1980 के दशक में देश में पूंजीवादी विकास को और तेज़ कर दिया। लेकिन इसने आर्थिक संकट को और गहरा कर दिया।[108] जैसा कि हमने पहले बताया है, पूंजीवाद का तार्किक परिणाम बेरोज़गारी है। 1970 के दशक के पूर्वार्ध में जेपी आंदोलन का जन्म हुआ जिसमें हज़ारों छात्रों व युवाओं ने भाग लिया था। इस आंदोलन ने स्पष्ट कर दिया था कि देश भयानक आर्थिक व बेरोज़गारी के संकट का सामना कर रहा है।

➢ यह भारत की बेरोज़गारी का दूसरा प्रमुख कारण है — भारत का पूंजीवादी विकास मॉडल।

3. वैश्वीकरण और बेरोज़गारी

आर्थिक विकास को पुनः गति देने के लिए भारत सरकार ने अब विकसित देशों से कर्ज़ लेना शुरू किया। अलबत्ता, इसने अर्थव्यवस्था को विदेशी कर्ज़ में फंसा दिया। धीरे-धीरे यह कर्ज़ बढ़ता गया। 1980 के दशक में यह चौगुना हो गया — 1980 में यह 20 अरब डॉलर था और 1990 में बढ़कर 80 अरब डॉलर से ज़्यादा हो गया था।[109] 1980 के दशक के अंत तक देश पूरी तरह से विदेशी कर्ज़ के जाल में फंस चुका था (अल्पविकसित देशों के लिए विदेश से उधार लेने के निहित तर्क की वजह से, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं) — हम अपने पुराने कर्ज़ों का ब्याज चुकाने के लिए भी विदेश से कर्ज़ ले रहे थे।

साम्राज्यवादी देश तो ऐसे ही मौके की ताक में थे। भारत के विदेशी कर्ज़ के संकट ने उन्हें सुनहरा मौका प्रदान कर दिया कि वे भारतीय अर्थव्यवस्था को एक बार फिर अपने नियंत्रण में ले सकें, ताकि वे एक बार फिर इसके कच्चे माल के संसाधनों पर नियंत्रण कर सकें और बाज़ार का दोहन कर सकें। अब उन्होंने भारत सरकार को नए ऋण रोक दिए, और मांग की कि वह पहले अपनी अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करे और विदेशी पूंजी व माल के अंतर्प्रवाह पर लगी सारी रुकावटें हटा दे।[110]

विदेशी कर्ज़ के स्रोत सूख जाने पर भारत का विदेशी मुद्रा भंडार गोता लगाकर दिसंबर 1990 तक मात्र 1.2 अरब डॉलर रह गया। 1991 के आरंभ में, भारत सरकार एक ऐसी स्थिति में फंस चुकी थी जहां, यदि वह विदेशी खाते के दिवालिएपन से बचना चाहती थी (जो वैश्विक पूंजीवादी ताने-बाने में बने रहने के लिए अनिवार्य है) तो उसके पास अंतरराष्ट्रीय कर्ज़दाताओं की शर्तें मानने के अलावा कोई चारा नहीं था।[111]

1991: वैश्वीकरण की शुरुआत

विकास के नेहरू मॉडल के चलते धीरे-धीरे पूंजीपति वर्ग — पूंजीपतियों, बड़े किसानों, बड़े व्यापारियों, राजनेताओं, नौकरशाहों, तस्करों, डीलर्स, वितरकों,

कालाबाज़ारियों, माफिया वगैरह — की संपदा में भरपूर इजाफा हुआ। ये आबादी के 5% से भी कम थे लेकिन अपनी आर्थिक ताकत के दम पर देश के प्रमुख राजनीतिक दलों और राजनीतिक सत्ता पर अब निर्णायक असर डालने लगे थे।

अंतरराष्ट्रीय हालात — जहां बड़ी संख्या में अल्पविकसित देशों ने साम्राज्यवादी दबाव के सामने समर्पण कर दिया था — और बढ़ते घरेलू संकट, दोनों को देखते हुए भारत के पूंजीपति वर्ग ने निष्कर्ष निकाला कि अपने मुनाफा संचय का विस्तार करने के लिए उन्हें अब स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के अपने सपने को तिलांजलि देनी होगी। उन्होंने साम्राज्यवादी देशों द्वारा थोपी गई शर्तों को मंज़ूर करने, नेहरू मॉडल का परित्याग करने तथा अर्थव्यवस्था को विदेशी निवेश व आयात के लिए खोलने का निर्णय लिया।

मई और जून 1991 में 10वीं लोक सभा के लिए आम चुनाव हुए। जुलाई 1991 में नरसिम्हा राव–मनमोहन सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस की अल्पमत सरकार केंद्र में सत्ता में आई। इसने फौरन विश्व बैंक–अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोश के 'संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम' (एसएपी) पर हस्ताक्षर कर दिए, और विदेशी कर्ज़ के संकट से निपटने के लिए एक विशाल विदेशी कर्ज़ के एवज में भारत की अर्थव्यवस्था में व्यापक फेरबदल का वचन दिया। इस एसएपी की प्रमुख शर्तें निम्नानुसार थीं:[112]

i. **मुक्त व्यापार:** आयात व निर्यात पर से सारे प्रतिबंध हटाना।
ii. **मुक्त निवेश:** अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों में विदेशी निवेश पर सारे प्रतिबंधों को हटाना।
iii. **वित्तीय घाटे में कमी:** गरीबों को दी जाने वाली सरकारी सब्सिडियां कम करके वित्तीय घाटे को लगभग शून्य पर लाना। इनमें खाद्य, स्वास्थ्य व शिक्षा पर सरकारी खर्च शामिल हैं।ल
iv. **मुक्त बाज़ार:** बाज़ार के कामकाज में कोई सरकारी हस्तक्षेप नहीं। इसका मतलब है:
    - सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और बीमा कंपनियों सहित सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों का निजीकरण;
    - सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली आवश्यक सेवाओं, जैसे पेयजल, स्वास्थ्य, शिक्षा, आदि का निजीकरण;
    - मुनाफाखोरी पर से सारे सरकारी नियंत्रण समाप्त करना, यहां तक अनिवार्य सेवाओं में भी।

इस तरह शुरू हुआ भारतीय अर्थव्यवस्था का 'वैश्वीकरण'। पिछले दशक में 70 से ज़्यादा अल्पविकसित देश जिस राह पर चल चुके थे, भारत के शासक वर्गों ने निर्णय लिया कि वे भी उसी रास्ते पर चलेंगे और नवउदारवादी विचारधारा को लागू करेंगे। इस विचारधारा को लागू करने का मतलब यह है कि उन्होंने निर्णय किया कि अब देश के

असंख्य गरीब लोगों की परवाह किए बगैर अर्थव्यवस्था का संचालन केवल बड़े-बड़े कॉर्पोरेट घरानों की मुनाफाखोरी के लिए किया जाएगा।

बहुराष्ट्रीय कंपनियां और भारत में बेरोज़गारी

वैश्वीकरण का एक महत्वपूर्ण घटक अर्थव्यवस्था को विकसित देशों के दैत्याकार कॉर्पोरेशन्स द्वारा निवेश के लिए खोलना है।

लिहाज़ा, 1991 में जब से भारत ने वैश्वीकरण शुरू किया, तब से एक के बाद एक केंद्रीय सरकारों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को विदेशी निवेश के लिए खोला है। इन विशालकाय निगमों के प्रवेश का देश में रोज़गार की स्थिति पर विनाशकारी असर हुआ है।

नौकरियों का नाश

एमएनसी जितनी नौकरियां पैदा करती हैं, उससे कहीं ज़्यादा नौकरियां खत्म कर देती हैं। आइये देखें कैसे:

- कृषि भारत के 50% से अधिक लोगों को जीविका प्रदान करती है। जैसे-जैसे कृषि-व्यापार कॉर्पोरेशन्स भारत के कृषि क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, उसका कॉर्पोरेटीकरण हो रहा है। परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र में रोज़गार सृजन में भारी गिरावट आई है।
- एमएनसी के प्रवेश के कारण कई कंपनियां, विशेषकर छोटी कंपनियां, बंद हो रही हैं।
- चूंकि एमएनसी श्रम बचत की नवीनतम टेक्नॉलॉजी का इस्तेमाल करती हैं, इसलिए उनके प्रवेश के कारण बड़ी भारतीय कंपनियों को उसी तरह की टेक्नॉलॉजी अपनानी पड़ रही है और कार्यबल में कटौती करनी पड़ रही है।

परिणामस्वरूप, वैश्वीकरण की वजह से देश में बेरोज़गारी बहुत बढ़ी है।

तालिका 5: कुल रोज़गार, रोज़गार वृद्धि दर और जीडीपी वृद्धि दर, 1983–2012[113]

	कुल रोज़गार *(करोड़ में)*	***अवधि***	***रोज़गार का सीएजीआर***	***जीडीपी वृद्धि दर*** *(1999–2000 की स्थिर कीमतों पर)*
1983	30.28	1972–73 से 1983	2.44%	4.7%
1993–94	37.40	1983 से 1993–94	2.03%	5.0%
2004–05	45.91	1993–94 से 2004–05	1.88%	6.2%
2011–12	47.42	2004–05 से 2011–12	0.46%	8.3%

यह बात रोज़गार वृद्धि के आंकड़ों में स्पष्ट दिखती है। एनएसएसओ सर्वेक्षण के आंकड़े बताते हैं कि 1991 में आर्थिक सुधार शुरू होने के समय से ही रोज़गार वृद्धि दर घटती गई है। देश में रोज़गार का सीएजीआर 1970 और 1980 के दशक में 2% से अधिक था; वह 1994–2005 की अवधि में गिरकर 1.88% हो गया, और फिर 2005–12 की अवधि के दौरान तेजी से घटकर मात्र 0.46% रह गया (तालिका 5)।

नौकरियों की गुणवत्ता में गिरावट

देश में सार्थक नौकरियां वही हैं जिन्हें संगठित क्षेत्र की नौकरियां कहा जाता है (संगठित क्षेत्र में वे सारी इकाइयां शामिल हैं जिनमें या तो बिजली के उपयोग के साथ 10 या ज़्यादा कर्मी हों, या बिजली के उपयोग के बगैर 20 या ज़्यादा कर्मी हों)। 1991 में वैश्वीकरण की शुरुआत से ही, बहुराष्ट्रीय कंपनियों को देश में निवेश करने का प्रलोभन देने की गरज से केंद्र व राज्य सरकारें उन श्रम कानूनों को कमज़ोर करती गई हैं जिन्हें मज़दूर वर्ग ने दशकों संघर्ष करके हासिल किया था। इसने कॉर्पोरेशन्स को मौका दिया कि वे स्थायी मज़दूरों की छंटनी करके उनकी जगह पर ठेका मज़दूर नियुक्त कर लें। इसके अलावा, इन कॉर्पोरेशन्स ने अपना काम अनौपचारिक क्षेत्र की छोटी-छोटी इकाइयों को ठेके पर देना भी शुरू कर दिया। ये इकाइयां कम मज़दूरी लागत के कारण बहुत सस्ती दरों पर माल का उत्पादन कर सकती हैं।

तालिका 6: औपचारिक व अनौपचारिक रोज़गार, 2009–10[114] *(करोड़ में)*	
कुल कार्य बल	46.02
संगठित क्षेत्र में रोज़गार	7.29
जिसमें से:	
औपचारिक रोज़गार (1)	3.07
अनौपचारिक रोज़गार (2)	4.21
असंगठित क्षेत्र में रोज़गार	38.73
जिसमें से:	
औपचारिक रोज़गार (3)	0.23
अनौपचारिक रोज़गार (4)	38.51
कुल औपचारिक रोज़गार (1+3)	3.30
कुल रोज़गार के % के रूप में कुल औपचारिक रोज़गार	7.2%
कुल अनौपचारिक रोज़गार (2+4)	42.72
कुल रोज़गार के % के रूप में कुल अनौपचारिक रोज़गार	92.8%

इसके चलते, संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग का व्यापक अनौपचारिकरण हुआ है — 2009–10 में संगठित क्षेत्र की लगभग 60% नौकरियां अनौपचारिक नौकरियां थीं (तालिका 6)।

रोज़गार वृद्धि जीडीपी विकास से वियोजित

1990 के दशक के बाद देश की जीडीपी विकास दर में तीव्र वृद्धि तो आई है, लेकिन उसके बावजूद रोज़गार वृद्धि दर में तेज गिरावट हुई है, और जो थोड़ी नौकरियां उपलब्ध हैं उनकी गुणवत्ता में गिरावट आई है (तालिका 5 व 6)।

यही है वैश्वीकरण की वास्तविकता। यह गहन आर्थिक संकट के समय में भी कॉर्पोरेट मुनाफे को बनाए रखने, और यहां तक कि बढ़ाने की रणनीति है — भले ही इसके लिए मेहनतकश लोगों को नींबू के जैसे निचोड़ना पड़े, उनको बड़ी संख्या में दरिद्रता में धकेलना पड़े।

- यह है भारत के भयावह रोज़गार संकट का तीसरा कारण — भारत के शासकों का विश्व बैंक द्वारा थोपी गई नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को स्वीकारना (जिसे वैश्वीकरण का लुभावना नाम दिया गया है)।

4. मोदी सरकार, फासीवादी नवउदारवाद और बेरोज़गारी

1991 के बाद से केंद्र में एक के बाद एक आने वाली सरकारों ने नवउदारवादी नीतियों को लागू किया (इनमें 1998–2004 की भाजपा-नीत एनडीए सरकार भी शामिल है)। इसके चलते, जहां भारत के व्यापारिक घरानों को खूब मुनाफा कमाने का मौका मिला, वहीं कीमतें बढ़ती गईं, रोज़गार की स्थिति बिगड़ती गई और गरीबी में भारी इजाफा हुआ। इन प्रभावों से चिंतित होकर यूपीए सरकार (2004–14) ने संसद में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून और महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी कानून जैसे कानून पारित करवाए ताकि गरीबों को थोड़ी राहत मिल सके।

इसी बीच, गुजरात में अपने मुख्य मंत्रित्व के दौरान नरेंद्र मोदी भारत के कॉर्पोरेट घरानों के प्रिय बन चुके थे क्योंकि उन्होंने उन पर खूब कृपा बरसाई थी। अहमदाबाद में निवेशकों की एक बैठक में रतन टाटा ने मोदी की स्तुति करते हुए कहा था कि किसी राज्य को सामान्यत: एक नए संयंत्र को मंज़ूरी देने में 90 से 180 दिन लगते हैं, लेकिन "नैनो के मामले में हमें महज 2 दिन में ज़मीन और मंज़ूरी मिल गई।" 'मोदी की सौगातों' ने गौतम अडानी, एक छुटभैये गुजराती व्यापारी, को एक दशक से भी कम की अवधि में भारत के सबसे अमीरों की कतार में ला खड़ा किया। यह उसी समय की बात है जब मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री थे।[115]

लिहाज़ा, जब 2014 के लोक सभा चुनाव नज़दीक आए, तो देश के शीर्ष कॉरपोरेट

घरानों ने प्रधानमंत्री पद के लिए मोदी का समर्थन करने का फैसला किया। अनिल अंबानी ने कहा, "नरेंद्र भाई ने गुजरात में अच्छा काम किया है और (ज़रा सोचिए) जब वे राष्ट्र का नेतृत्व करेंगे तो क्या होगा।" उनके भाई मुकेश अंबानी ने भावुक होकर कहा, "गुजरात सोने के दीपक के समान चमक रहा है और इसका श्रेय जाता है नरेंद्र मोदी के भविष्यदृष्टा, असरदार और जुनूनी नेतृत्व को।"[116] भारत के सबसे बड़े धनिकों ने मोदी के चुनाव प्रचार अभियान में मुक्त हस्त से पैसा डाला, जिसके चलते मोदी का चुनावी अभियान का खर्च भारत के चुनावी इतिहास में सबसे अधिक रहा। यह एक अभूतपूर्व चुनाव अभियान था, जिसमें 3डी होलोग्राफिक रैलियां हुईं, सोशल मीडिया का जमकर उपयोग किया गया और मीडिया में सम्मोहक प्रचार किया गया।

भाजपा ने चुनावों में भारी जीत हासिल की। लेकिन हकीकत में, यह भारत की कॉर्पोरेटशाही की जीत थी; वे अपने आदमी को प्रधानमंत्री की कुर्सी पर आसीन करने में कामयाब हुए थे। 2019 के लोकसभा चुनाव में मोदी और भी बड़े बहुमत के साथ सत्ता में आए।

सत्ता में आने के बाद, अपने कॉर्पोरेट समर्थकों की इच्छा के अनुसार मोदी सरकार ने नवउदारवाद को जानलेवा रफ्तार से क्रियांवित किया है।

मोदीनॉमिक्स = कॉर्पोरेटोनॉमिक्स

मोदी सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था को विदेशी निगमों के लिए खोलने की गति को बढ़ा दिया है। उसने विदेशी निवेशकों के लिए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के कानूनों में भारी उदारीकरण की घोषणा की है।[117] यहां तक कि उसने रक्षा क्षेत्र में भी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को मंज़ूरी दे दी है।

इसके साथ ही सरकार भारी मात्रा में सार्वजनिक धन और राष्ट्रीय संसाधनों को विदेशी और भारतीय कॉर्पोरेशन्स और अति-अमीरों को हस्तांतरित कर रही है। ऐसे हस्तांतरणों की कुछ झलकियां देखिए।

i. टैक्स रियायतें

मोदी सरकार ने अपने छ: साल के कार्यकाल में हर साल अमीरों को लाखों करोड़ रुपए की टैक्स रियायतें दी हैं। ये रियायतें कॉर्पोरेट टैक्स, आय कर और उत्पाद शुल्क में दी गई हैं। केंद्रीय बजट दस्तावेज़ों के विश्लेषण से पता चलता है कि 2014–20 की अवधि में यह छूट कम से कम 33 लाख करोड़ रुपए थी।[118]

इन कर रियायतों के कारण ही देश के अधिकांश अति-अमीर बहुत कम कर चुकाते हैं। आयकर विभाग द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों से पता चलता है कि 2017–18 में सिर्फ 20 व्यक्तियों ने 50 करोड़ रुपए से अधिक का कर चुकाया।[119] जबकि *फोर्ब्स* की दुनिया के अरबपतियों की सूची के अनुसार, भारत में 2018 में 141 डॉलर अरबपति थे!

ii. कर्ज़माफी

मोदी सरकार के प्रथम पांच सालों में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने बड़े कॉर्पोरेट घरानों को दिए गए कम से कम 4.55 लाख करोड़ रुपए के कर्ज़ माफ किए हैं।[120] इस आंकड़े में इन कर्ज़ों पर लगने वाला ब्याज शामिल नहीं है; यदि उसे भी जोड़ दिया जाए, तो कुल नुकसान इस राशि का चार गुना होगा।[121]

इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने 'ऊंचे व ताकतवर' लोगों के कर्ज़ों की 'पुनर्रचना' की है — यह कर्ज़ को बट्टे खाते में डालने का घुमाव-फिराव-वाला तरीका है। यह राशि भी कई लाख करोड़ रुपए की होगी (वास्तविक राशि ज्ञात नहीं है)।

इतनी सारी क़र्ज़-माफ़ी के बाद भी, मार्च 2019 तक सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की कुल गैर-निष्पादित परिसम्पत्तियां (non-performing assets) यानी डूबे हुए कर्ज़ 8.06 लाख करोड़ रुपए तक पहुंच चुकी थीं।[122] इनमें से ज्यादातर बड़े कॉरपोरेट घरानों को दिए गए कर्ज हैं। मोदी शासन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि इनमें से अधिकांश भी जल्द ही बट्टे खाते में डाल दिए जाएंगे।[123]

इस सबको जोड़कर देखें, तो इसका अर्थ है कि 2014 में सत्ता में आने के बाद से, मोदी सरकार ने बड़े कॉर्पोरेट घरानों के 15–20 लाख करोड़ रुपए (संभवत: इससे भी ज़्यादा) के कर्ज़ या तो राइट ऑफ कर दिए हैं (यानी माफ कर दिए हैं) या राइट ऑफ करने जा रही है।

iii. अन्य हस्तांतरण

मोदी सरकार ने देश की खनिज संपदा तथा अन्य संसाधनों का नियंत्रण, नगण्य रॉयल्टी के बदले, निजी कम्पनियों को सौंप दिया है, सार्वजनिक क्षेत्र की लाभकारी कंपनियों का स्वामित्व औने-पौने दामों पर विदेशी व भारतीय निजी व्यापारिक घरानों को सौंप दिया है, 'सार्वजनिक–निजी साझेदारी' के नाम पर अधोसंरचना परियोजनाओं में निजी कंपनियों को प्रत्यक्ष सब्सिडियां प्रदान की हैं, वगैरह-वगैरह। सार्वजनिक संपत्ति को इस तरह निजी तिज़ोरियों में स्थानांतरित करने की वजह से सरकारी खजाने को भारी नुकसान हुआ है।

सार्वजनिक संपत्ति की खुली लूट का मात्र एक उदाहरण देखिए। पिछले छ: वर्षों में मोदी सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के त्वरित निजीकरण में लीन रही है। अपने पहले कार्यकाल में, मोदी सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों में सरकारी हिस्सा बेचकर 2.79 लाख करोड़ रुपए कमाए।[124] दूसरे कार्यकाल में, उसने 2019–20 के लिए विनिवेश से 1.05 लाख करोड़ रुपए कमाने का लक्ष्य लखा था और मौजूदा वर्ष (2020–21) के लिए इसे बढ़ाकर 2.1 लाख रुपए करोड़ कर दिया गया। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की कुछ सबसे बढ़िया काम करने वाली कंपनियों को बेचने की सरकार की योजना है, जैसे IOC, NTPC, ऑइल इंडिया, GAIL, NALCO, BPCL, EIL, BEML,

वगैरह। इसके अलावा सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों व वित्तीय संस्थानों में भी विनिवेश की योजना बना रही है।[125] चाटुकार अर्थशास्त्रियों और जीहुज़ूर मीडिया ने तो विनिवेश के इन लक्ष्यों की तारीफ 'कीर्तिमान' कहकर की है, लेकिन किसी ने इसका ज़िक्र भी नहीं किया है कि इस निजीकरण की वजह से सरकार का भारी नुकसान हुआ है। उदाहरण के लिए, सरकार ने भारत पेट्रोलियम कॉर्पोरेशन लिमिटेड (बीपीसीएल) में अपनी संपूर्ण 53% हिस्सेदारी बेचने की प्रक्रिया शुरू कर दी है। बीपीसीएल एक एकीकृत तेल और गैस कंपनी है, जिसके रिफाइनिंग, विपणन, अपस्ट्रीम और गैस कारोबार में निवेश हैं। समाचार रिपोर्टों के अनुसार, सरकार इस विनिवेश से 40,000 करोड़ रुपए कमाने की उम्मीद कर रही है। पब्लिक सेक्टर ऑफिसर्स एसोसिएशन के अनुसार, बीपीसीएल की भौतिक संपत्ति का वर्तमान मूल्य 9 लाख करोड़ रुपए है, जिसका अर्थ है कि सरकार की हिस्सेदारी का मूल्य कम से कम 5.2 लाख करोड़ रुपए है (सरकार कंपनी का प्रबंधन नियंत्रण भी सौंपने जा रही है, जिसके चलते सरकारी हिस्से के इस मूल्यांकन पर प्रीमियम भी जोड़ा जाना चाहिए)। सरकार इस बिक्री से जितना कमाने की अपेक्षा कर रही है, यह राशि उससे तेरह गुना अधिक है।[126]

सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र की प्रत्येक इकाई के निजीकरण में यही हो रहा है — प्रत्येक सार्वजनिक परिसंपत्ति को अत्यंक रियायती दामों पर विदेशी और भारतीय कंपनियों को बेचा गया है। लिहाज़ा, जब सरकार यह कहती है कि उसने 2020–21 में विनिवेश आय से 2.1 लाख करोड़ रुपए हासिल करने का लक्ष्य रखा है, तो वास्तव में सरकारी खजाने को विनिवेश से हुई इस आमदनी से कई गुना ज़्यादा का नुकसान होने वाला है — 10–20 लाख करोड़ रुपए का, या शायद उससे भी अधिक।

परिणाम: अमीरों की संपत्ति में तेज़ वृद्धि

राष्ट्र की संपदा की इस पैशाचिक लूट की बदौलत मोदी शासन के छ: वर्षों में देश के कुबेरों की संपत्ति तेज़ी से बढ़ी है। 2014 में जब मोदी सरकार सत्ता में आई थी, उस समय *फोर्ब्स* सूची[127] में भारतीय अरबपतियों की संख्या 56 थी, जिनकी कुल संपत्ति 191.5 अरब डॉलर थी। मात्र 5 वर्षों में, यानी 2019 तक, अरबपतियों की संख्या लगभग दुगनी हो कर 106 हो गई, और इनकी कुल संपत्ति बढ़कर 408 अरब डॉलर हो गई थी। यह राशि 28.97 लाख करोड़ रुपए के बराबर है, जो भारत के 2019–20 के बजट खर्च (27.86 लाख करोड़ रुपए) से ज़्यादा थी।[128]

मोदीनॉमिक्स = मज़दूर वर्ग पर हमला

साथ ही साथ मोदी सरकार ने मेहनतकश लोगों पर सीधे हमले शुरू कर दिए हैं।

i. नोटबंदी और जीएसटी: अनौपचारिक क्षेत्र पर हमला

8 नवंबर 2016 के दिन प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने घोषणा की कि 500 व 1000 रुपए

के नोट मध्यरात्रि से वैध मुद्रा नहीं रहेंगे। इसकी वजह से अर्थव्यवस्था में अफरा-तफरी मच गई। लोगों को घंटों बैंकों के सामने लंबी-लंबी कतारों में खड़े रहने को विवश किया गया — पहले अपने पुराने नोट बदलवाने के लिए, और फिर अपना पैसा निकालने के लिए।

प्रधानमंत्री का दावा था कि सरकार ने यह कदम काले धन पर रोक लगाने के लिए उठाया था; लगभग दो साल बाद, रिज़र्व बैंक ने परोक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि सरकार इस लक्ष्य को हासिल करने में पूरी तरह नाकाम रही है क्योंकि 99.3% विमुद्रीकृत मुद्रा वापिस बैंकिंग प्रणाली में आ चुकी है। यह बिल्कुल भी आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि नोटबंदी से काली अर्थव्यवस्था पर अंकुश लग ही नहीं सकता! दरअसल, मोदी सरकार भारतीय अर्थव्यवस्था में जमा काले धन पर और काली कमाई के सृजन पर रोक लगाने के प्रति कभी गंभीर नहीं रही है। अगर ऐसा होता, तो वह कई प्रभावी कदम उठा सकती थी — जिन्हें लेने से वह जानबूझकर कतराती रही। इसके विपरीत, मोदी सरकार ने भ्रष्टाचार-रोधी कानून कमज़ोर किए हैं (इन मुद्दों पर अधिक विस्तार से चर्चा करना इस पुस्तिका के दायरे से बाहर है[129])।

यदि नोटबंदी काले धन पर अंकुश लगाने का प्रयास नहीं था, तो इसके पीछे असली मंशा क्या थी?

वास्तविक कारण था भारत के विशाल अनौपचारिक क्षेत्र पर हमला करना ताकि उसका कॉर्पोरेटीकरण किया जा सके। चूंकि उच्च मूल्य के मुद्रा नोट जनता के पास मुद्रा का 86% थे, इसलिए उनके विमुद्रीकरण के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में नगदी की भारी कमी हो गई। इसने असंगठित क्षेत्र के सभी तबकों — छोटे किसानों, छोटे खुदरा विक्रेताओं, सूक्ष्म उद्यमों, फेरी वालों, आदि — को बुरी तरह प्रभावित किया। ये सभी नकद लेनदेन पर निर्भर हैं; उनके लिए नगदीविहीन लेन-देन और कारोबार करने के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों को अपनाना संभव ही नहीं है। लिहाज़ा, नोटबंदी ने सम्पूर्ण असंगठित क्षेत्र को गहरे संकट में धकेल दिया।[130]

जुलाई 2017 में सरकार ने वस्तु एवं सेवा कर (गुड्स एंड सर्विसेज टैक्स या GST, जीएसटी) पेश किया। इसने न केवल असंगठित क्षेत्र के लागतों में बहुत वृद्धि की ('लेन-देन लागत' और 'कार्यशील पूंजी लागत' दोनों में), इसके साथ ही इसने इस क्षेत्र पर औसत कर की दर में भी वृद्धि की (बड़े पूंजीवादी क्षेत्र पर कर की दर को कम करते हुए)। जीएसटी की जटिलता व इसके कॉर्पोरेट अनुकूल और छोटे कारोबारी विरोधी स्वरूप ने असंगठित क्षेत्र का और गला घोंट दिया।[131]

इन दोनों क़दमों का असंगठित क्षेत्र पर इतना विनाशकारी असर हुआ है कि एक साल बाद भी वह इससे उबर नहीं पाया है। अखिल भारतीय मैन्यूफेक्चरिंग संगठन सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्यमों सहित लगभग तीन लाख इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। इस संगठन द्वारा 2018 के उत्तरार्ध में किए गए एक सर्वेक्षण में पता चला था कि सूक्ष्म और लघु उद्यमों में नौकरियों की संख्या में 2014 के बाद से लगभग एक-तिहाई की गिरावट आई है। मध्यम

स्तर के उद्यमों में लगभग एक-चौथाई नौकरियां चली गई थीं और व्यापारी वर्ग में 40% से अधिक नौकरियों का नुकसान हुआ था।[132]

अनौपचारिक क्षेत्र पर यह हमला अनजाने में नहीं, जानबूझकर किया गया था। मोदी सरकार पूरी तरह से कॉर्पोरेट-परस्त है। बड़े कॉर्पोरेट घराने अनौपचारिक क्षेत्र को नष्ट करना चाहते हैं जिनका वर्तमान में सकल घरेलू उत्पाद में योगदान लगभग 45% है, ताकि वे भारतीय अर्थव्यवस्था पर एक निर्णायक नियंत्रण हासिल कर सकें। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भारत का शीर्ष वाणिज्य मंडल एसोचैम ने जीएसटी के कार्यान्वयन के लिए मोदी सरकार की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह "सरकार की उपलब्धियों की सूची में सबसे शीर्ष पर होगा"।[133]

स्वतंत्र भारत में यह पहली बार है कि किसी सरकार ने अनौपचारिक क्षेत्र को खत्म करने के लिए हमला किया है। देश का 90% से अधिक कार्य बल अनौपचारिक क्षेत्र में है। कोई फासीवादी सरकार ही बड़े कॉर्पोरेशन्स को लाभ पहुंचाने के लिए कामगार लोगों के इतने बड़े तबके की जीविकाओं पर आक्रमण कर सकती है।

ii. श्रम कानूनों को खत्म करना, मज़दूरों को गुलाम बनाना

2014 में सत्ता में आने के बाद से मोदी सरकार का एक महत्वपूर्ण एजेंडा देश के श्रम कानूनों को धीरे-धीरे खत्म करना रहा है, ताकि भारतीय और विदेशी कॉर्पोरेट घराने अपने मुनाफे को अधिकतम कर सकें। 2019 में और भी अधिक बहुमत से लोक सभा चुनाव जीतने के बाद, उसने इस एजेंडे को और तेजी से लागू करना शुरू कर दिया है। इस संबंध में मोदी सरकार द्वारा उठाया गया सबसे महत्वपूर्ण कदम है: सभी 44 श्रम कानून रद्द कर उनकी जगह चार श्रम संहिताओं (लेबर कोड्स) को लाना।

इसके लिए पहला कदम अगस्त 2019 में उठाया गया। भारतीय श्रम सम्मेलन की सिफारिशों को खारिज करके सरकार ने संसद में एक नई वेतन संहिता पारित करवाई जिसमें मज़दूरों के लिए 178 रुपए प्रतिदिन (यानी 4,628 रूपए मासिक) की निहायत कम न्यूनतम मज़दूरी की घोषणा की गई — जबकि श्रम मंत्रालय की अपनी विशेषज्ञ समिति ने 375–447 रुपए प्रतिदिन की सिफारिश की थी और केंद्रीय ट्रेड यूनियनों ने 692 रुपए प्रतिदिन यानी 18,000 रुपए मासिक की मांग की थी। नई न्यूनतम मज़दूरी और कुछ नहीं, महज़ 'भुखमरी की मज़दूरी' है। और तो और, नई वेतन संहिता में राज्यों को अपनी-अपनी और भी कम न्यूनतम मज़दूरी तय करने की छूट दी गई है — और विदेशी निवेश को आमंत्रित करने को लेकर विभिन्न राज्यों के बीच होड़ को देखते हुए भविष्य में यही होगा।[134]

सितंबर 2020 में मोदी सरकार ने कोरोना महामारी का फायदा उठाते हुए संसद का एक छोटा मानसून सत्र बुलाया और व्यापक विरोध के बावज़ूद शेष तीन श्रम संहिताओं को अलोकतांत्रिक तरीके से पारित करा लिया। इनमें सामाजिक सुरक्षा संहिता बिल 2020,

आजीविका सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कार्यदशा संहिता बिल 2020 और औद्योगिक संबंध संहिता बिल 2020 शामिल हैं। सामाजिक सुरक्षा संहिता सामाजिक सुरक्षा से संबंधित कानूनों में संशोधन कर उन्हें समेकित करती है, और इस प्रक्रिया में श्रमिकों की एक बड़ी संख्या को सामाजिक सुरक्षा कानूनों के दायरे से बाहर कर देती है। आजीविका सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कार्यदशा संहिता श्रमिकों के व्यावसायिक स्वास्थ्य, सुरक्षा और कार्यस्थल के माहौल को नियंत्रित करने वाले मौजूदा कानूनों को काफी कमजोर करती है — इतना ही नहीं, इस संहिता के पारित होने से, 90% से अधिक श्रमिक इस संहिता द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा के दायरे में ही नहीं आते! औद्योगिक संबध संहिता अधिकांश औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मालिकों को कामगारों को जब चाहे काम पर रखने और जब चाहे निकालने की खुली छूट देती है, लघु अवधि अनुबंध पर मज़दूरों को रखने की छूट देती है, और कामगारों के ठेकेदारीकरण में तेजी लाने की अनुमति देती है; मज़दूरों के लिए बेहतर शर्तों और मज़दूरी की सौदेबाज़ी करना कठिन हो जाएगा, और हड़ताल जैसी कार्रवाइयां मुश्किल हो जाएंगी।[135]

इन परिवर्तनों द्वारा सरकार सदियों के संघर्ष और सैकड़ों कुर्बानियों से प्राप्त मज़दूरों के अधिकारों को ख़त्म कर देना चाहती है। वे 19वीं सदी में हमारे कारखानों में व्याप्त बर्बर परिस्थितियों को वापस ले आएंगे।

iii. मोदीनॉमिक्स का परिणाम: कुल रोज़गार में गिरावट

मोदीनॉमिक्स — मोदी के शासनकाल में नवउदारवादी सुधारों की गति में आई तेजी — के कारण देश में बेरोज़गारी दर में भयानक वृद्धि हुई है। सरकार द्वारा जारी किए गए आंकड़े बताते हैं कि मोदी के पहले कार्यकाल में 2017–18 में बेरोज़गारी की दर 6.1% पर पहुंच गई थी, जो कि पिछले 45 साल का सर्वोच्च स्तर है। यह उच्च आंकड़ा वास्तविकता से कम ही है, क्योंकि इसमें मज़दूरों की वह बहुत बड़ी संख्या शामिल नहीं है जो नौकरी नहीं मिलने के चलते हताशा के कारण कार्यबल से बाहर हो गए हैं। यदि उनको बेरोज़गारों के आंकड़ों में शामिल कर लिया जाए, तो जैसे कि हमने अध्याय 1, खंड (ii) में गणना करके दर्शाया है, बेरोज़गारी दर 22.5% तक बढ़ जाती है, और युवा बेरोज़गारी दर और भी अधिक 40.2% हो जाती है।

तालिका 7: कुल रोज़गार, 2012 से 2018[136]

	कुल रोज़गार *(करोड़ में)*
2011–12	47.42
2017–18	46.50

अगर हम सरकार द्वारा जारी बेरोज़गारी के आंकड़ों को एक और नजरिए से देखें, कि अर्थव्यवस्था में कुल कितने रोज़गार हैं, तो उपरोक्त चौंका देने वाले आंकड़े और भी

विश्वसनीय हो जाते हैं। पीएलएफएस के आंकड़े बताते हैं कि मोदी के पहले कार्यकाल में अर्थव्यवस्था में रोज़गार सृजन पूरी तरह चरमरा गया था — 2011–12 से 2017–18 की अवधि में अर्थव्यवस्था में कुल रोजगारों की संख्या वास्तव में 90 लाख से कम हुई है।

मोदीनॉमिक्स और फासीवाद

मोदी सरकार बड़े निगमों को सार्वजनिक संपत्ति लूटने की खुली छूट दे रही है, करोड़ों लोगों की आजीविका नष्ट करने और उन्हें दरिद्रता में धकेलने की कीमत पर भी बड़े औद्योगिक घरानों को बेलगाम मुनाफा कमाने दे रही है — अपने इस असली एजेंडा को ढंकने के लिए ही उसने हत्यारे झुंडों को गोमांस भक्षियों की खोज करने के लिए, गुडों को 'लव जेहादियो' की तलाश करने के लिए, और उन्मादी भीड़ को पांच सदियों पहले कुछ कल्पित अपमान का बदला लेने के नाम पर 'दूसरों' पर हमला करने के लिए खुला छोड़ दिया है। अपने कारपोरेट समर्थक और मज़दूर विरोधी चरित्र को छुपाने के लिए ही मोदी सरकार बहुसंख्यकों के मन में डर पैदा कर रही है कि देश को 'दुश्मनों' से खतरा है और इस बहाने उनमें फर्जी 'राष्ट्रवाद' के नाम पर जोश जगाकर उनको अल्पसंख्यकों और सरकार के विरोधियों पर हमला करने के लिए उकसा रही है।

मोदीनॉमिक्स और मनुवाद

संविधान ने जाति के आधार पर छुआछूत और भेदभाव को गैर-कानूनी घोषित कर दिया था और सारे नागरिकों को सामाजिक स्थिति और अवसरों में बराबरी की गारंटी दी थी। अलबत्ता, जैसा कि डॉ. अंबेडकर ने कहा था, "अधिकारों की रक्षा कानून नहीं बल्कि समाज की सामाजिक व नैतिक जमीर करता है...। यदि समुदाय मूलभूत अधिकारों का विरोध करता है, तो कोई कानून, कोई संसद, कोई न्यायपालिका इनकी सही मायनों में गारंटी नही दे सकती।"[137]

कांग्रेस पार्टी के अंदर की दक्षिणपंथी लॉबी और समाज में मौजूद शक्तिशाली जातिवादी ताकतों, जिनका नेतृत्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) कर रहा था, ने मिलकर नेहरू और कांग्रेस नेतृत्व को जातिवाद के विरुद्ध एक सशक्त सामाजिक आंदोलन विकसित करने से रोक दिया। दरअसल, जब भारत के संविधान का निर्माण हो रहा था, उस समय आरएसएस ने इसका विरोध किया था। उसकी आपत्ति थी कि भारत का संविधान बनाते समय संविधान विशेषज्ञों ने मनु के विधान की पूरी तरह उपेक्षा की थी।

भारत के पूंजीपति वर्ग को भी भारतीय समाज में जातिवाद के जारी रहने को लेकर कोई दिक्कत नहीं थी। वास्तव में जातिवाद पूंजीपतियों के हित में है। उन्होंने इसका उपयोग दलितों और आदिवासियों का शोषण तेज़ करने में किया है और इस तरह अपना मुनाफा खूब बढ़ाया है। जातिवाद से उन्हें कामगार वर्ग को बांटकर रखने में भी मदद मिलती है।

लिहाज़ा, 1950 में संविधान के औपचारिक रूप से अपनाए जाने के बाद भी, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां कई तरह की छुआछूत तथा तरह-तरह की सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत वंचनाओं का सामना करती रही हैं। वे भयानक अत्याचारों का भी शिकार हुई हैं। और, देश की बेरोज़गारी व गरीबी की समस्या ने भी सबसे अधिक उन्हीं को पीड़ित किया है। एनएसएसओ के आंकड़े बताते हैं कि दलितों के लिए बेरोजगारी दर राष्ट्रीय औसत से कहीं अधिक रही है।[138]

2014 में आरएसएस समर्थित मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से दलितों पर अत्याचारों में बहुत वृद्धि हुई है। भाजपा का पितृ संगठन आरएसएस मनुस्मृति द्वारा अनुमोदित अतीत के सभी पारंपरिक पदानुक्रमों को एक बार फिर बहाल करना चाहता है। एनसीआरबी के आंकड़ों के अनुसार, अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों में बेतहाशा वृद्धि हुई है — ऐसे अपराधों की संख्या 2015 में 38,670 से बढ़कर 2019 में 45,935 हो गई; और इसी अवधि में अनुसूचित जनजातियों के विरुद्ध अपराधों की संख्या 6,568 से बढ़कर 8,257 हो गई।[139]

तो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए कि मोदीकाल में देश जिस बेरोज़गारी संकट की चपेट में है, उसमें दलित और आदिवासी सबसे बुरी हालत में हैं। पीएलएफएस 2018–19 के आंकड़े बताते हैं कि 2018–19 में दलितों में बेरोज़गारी की दर राष्ट्रीय औसत से अधिक थी। अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की 2018 की *'स्टेट ऑफ वर्किंग इंडिया'* रिपोर्ट इस बात को रेखांकित करती है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, दोनों का ही प्रतिनिधित्व कम आमदनी वाले कामों में अनुपात से अधिक है और उच्च आमदनी वाले कामों में अत्यंत कम है। इसके विपरीत, कामों में आमदनी बढ़ने के साथ उच्च जातियों का प्रतिनिधित्व लगातार बढ़ता जाता है। रिपोर्ट के इस निष्कर्ष पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों की औसत आय उच्च जातियों की औसत आय का मात्र 55% है।[140]

महिलाएं और बेरोज़गारी

भारतीय संविधान ने जेंडर समानता प्रदान की थी, लेकिन स्वतंत्र भारत के नेता इस सम्बन्ध में भी व्यापक सामाजिक परिवर्तन नहीं ला पाए, पुरुष प्रधानता बनी रही और महिलाओं का सामाजिक शोषण जारी रहा। यही कारण है कि महिलाओं की श्रम बल में भागीदारी भी पुरुषों से काफी कम बनी रही है।

एनएसएसओ सर्वेक्षणों से पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में महिला श्रम बल सहभागिता दर (एलएफपीआर) पुरुषों की दर से लगभग 40 से 45% अंक कम रही है। 1993–94 से 2004–05 के दो दशकों के दौरान महिला एलएफपीआर 36 से 49% के बीच थी। उसके बाद, मोदी वर्षों के दौरान, यह 2011–12 में 35.8% से लगातार गिरकर 2017–18 में 24.6% के ऐतिहासिक निचले स्तर पर आ गई। शहरी क्षेत्रों में, महिलाओं की

एलएफपीआर ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में आधी रही है, और पुरुषों की तुलना में 55% अंक से कम रही है! मोदी के वर्षों के दौरान, 2017–18 में यह और गिरकर 20.4% रह गई (चार्ट 2 देखें)। ये अत्यंत अल्प आंकड़े हैं और दुनिया में सबसे कम में से हैं; अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस मामले में भारत को दुनिया के 131 देशों में 121 वां स्थान दिया है।[141]

चार्ट 2: महिला श्रम बल भागीदारी दर

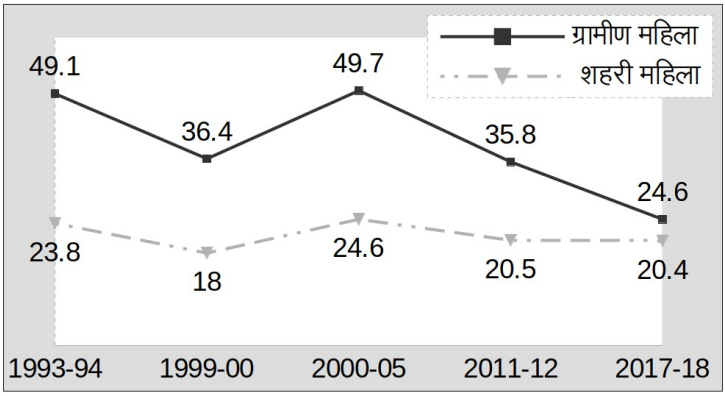

मोदीनॉमिक्स और कोरोना महामारी

मोदी सरकार ने जिस ढंग से महामारी को संभाला, उससे स्पष्ट हो गया कि वह देश के लोगों के प्रति कितनी निष्ठुर है।

अनियोजित लॉकडाउन ने अनौपचारिक क्षेत्र को पूरी तरह ठप कर दिया। देश के 90% से ज़्यादा कामगार अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते हैं — इनमें से अधिकांश अपनी जीविका से हाथ धो बैठे। अनौपचारिक क्षेत्र के कामगारों के पास कोई कानूनी या सामाजिक सुरक्षा नहीं होती जो उन्हें जीविका गंवाने पर कुछ आमदनी प्रदान करे। चूंकि इनमें से काफी सारे कामगार निर्वाह की कगार पर ही होते हैं, लॉकडाउन ने अधिकांश को गंभीर आर्थिक संकट में धकेल दिया। सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए प्रवासी मज़दूर (जिनकी संख्या 10–15 करोड़ के बीच अनुमानित है)।

इस मानवीय आपदा को संभालने के संजीदा प्रयास करने की बजाय, प्रधान मंत्री महज़ चिकनी-चुपड़ी बातें करते रहे। लोगों को 'संयम, तपस्या और बलिदान' का मार्ग अपनाने की सलाह देते रहे। साथ में 'थाली बजा' और 'दीया जलाओ' जैसे खोखले नारे उछालते रहे। जैसे-जैसे आर्थिक स्थितियां बिगड़ने लगीं, लोगों को राहत प्रदान न करने के लिए सरकार की आलोचना बढ़ने लगी। अंतत:, लॉकडाउन के लगभग दो माह बीत जाने के बाद, 12 मई को मोदी ने 20 लाख करोड़ के राहत पैकेज की घोषणा की (जिसमें पहले घोषित राहत पैकेज शामिल था)। यह राशि जीडीपी का लगभग 10% थी। चाटुकार मीडिया ने इसे हाथों-हाथ लिया और कहा कि यह दुनिया के सबसे बड़े राहत पैकेजों में से है।

अलबत्ता, मोदी की यह घोषणा सर्वोच्च दर्जे की लफ्फाज़ी ही साबित हुई। सरकार द्वारा घोषित अधिकांश वित्तीय सहायता ऋणों के रूप में थी; सरकार द्वारा अपने बजट में से जो खर्च किया जाना था, जिसे वास्तव में राहत कहा जाता है, वह तो 2 लाख करोड़ रुपए से भी कम था, जीडीपी के 1% से भी कम, यानी प्रधान मंत्री की घोषणा का दसवां भाग। लोग जिस आर्थिक विनाश का सामना कर रहे थे, उसे देखते हुए यह ऊंट के मुंह में ज़ीरे जैसा ही था और अन्य देशों की तुलना में बहुत कम था।[142]

कई अर्थशास्त्रियों, सिविल सोसायटी समूहों और यहां तक कि विपक्षी दलों ने भी सरकार से आग्रह किया कि आयकर के दायरे में न आने वाले परिवारों को कम से कम तीन महीनों तक 7,000 रुपए प्रति माह नगद हस्तांतरण किया जाए। इससे न केवल लोगों को बहुत जरूरी राहत मिलती, लोगों के हाथों में क्रय शक्ति आने के कारण सरकार द्वारा लॉकडाउन खोलना शुरू करने के बाद आर्थिक बहाली को प्रोत्साहन भी मिलता।[143] यह प्रस्ताव सर्वथा अमल योग्य था, लेकिन सरकार ने इसे और ऐसे ही कई अन्य सुझावों को अनसुना कर दिया। कारण: ठीक-ठाक राहत पैकेज देने से वित्तीय घाटा बढ़ जाता और यह भारत पर साम्राज्यवादी देशों द्वारा थोपी गई शर्तों का उल्लंघन होता। 'स्वदेशी' और 'आत्मनिर्भरता' के सारे बड़बोलेपन के बावजूद मोदी सरकार में साहस नहीं है कि वह दुनिया पर हावी अंतरराष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को चुनौती दे सके।

वित्तीय वर्ष 2021 की प्रथम तिमाही में भारतीय अर्थव्यवस्था में रिकॉर्ड 23.9% की गिरावट के पीछे असली कारण यही है (और शायद यह आंकड़ा भी वास्तविक गिरावट से कम साबित हो)।

लोगों के प्रति मोदी सरकार की निर्दयता की तुलना सिर्फ अमीरों के प्रति उसकी उदारता से की जा सकती है। सरकार ने महामारी का इस्तेमाल अपने नवउदारवादी एजेंडा के गति देने तथा अमीरों को और अधिक संपत्ति जुटाने में मदद देने के एक अवसर के रूप में किया है।

महामारी के डर के चलते लोग एकजुट होकर सड़कों पर आकर विरोध प्रदर्शन नहीं कर पाएंगे, इस बात का फायदा उठाकर सरकार ने सितंबर में संसद का एक संक्षिप्त सत्र बुलाया और विपक्ष के जोरदार विरोध के बावजूद वहां तीन कृषि विधेयक पारित करवा लिए। ये विधेयक कृषि के कार्पोरेटीकरण को गति देने के उद्देश्य से लाए गए थे (इन विधेयकों की चर्चा हम आगे विस्तार में करेंगे)। इसके तुरंत बाद सरकार ने संसद में तीन श्रम संहिताएं भी पारित करवा लीं, जिनकी चर्चा हम पिछले खंड में कर चुके हैं। ये सारे कानून हमारे किसानों और मज़दूरों के लिए विनाशकारी होंगे।

जब देश लॉकडाउन में था, सरकार ने ऐसे उपायों का पूरा पिटारा खोल दिया जिनसे सार्वजनिक संपदा को निजी कार्पोरेट घरानों को सौंपने के काम में तेज़ी आएगी। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण का एक त्वरित कार्यक्रम घोषित किया। इनमें कृषि, रक्षा-उत्पादन, उड्डयन, अंतरिक्ष और परमाणु ऊर्जा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र शामिल हैं;

सरकार ने यह भी घोषणा कर दी कि वह सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकांश बैंकों और बीमा कंपनियों का भी निजीकरण करेगी; उसने कोयला समेत खनिज उत्पादन के क्षेत्र को निजी पूंजी, यहां तक कि विदेशी पूंजी के लिए भी, और अधिक खोलने की भी घोषणा कर डाली। कार्पोरेट परियोजनाओं की मंज़ूरी को त्वरित बनाने के लिए मार्च 2020 में, लॉकडाउन की घोषणा से 2 दिन पहले, पर्यावरण मंत्रालय ने पर्यावरण प्रभाव आकलन की प्रक्रिया में संशोधन की घोषणा कर दी, जिसका परिणाम यह होगा कि कई किस्म की परियोजनाओं को पर्यावरण पर उनके प्रभाव का मूल्यांकन किए बगैर ही मंज़ूरी मिल सकेगी। लॉकडाउन का फायदा उठाते हुए सरकार ने पर्यावरणीय दृष्टि से विनाशकारी कई सारी परियोजनाओं को मंज़ूरी दे दी। इनकी वजह से आदिवासी समुदायों का बड़े पैमाने पर विस्थापन होगा।[144]

महामारी और बेरोज़गारी

महामारी का संकट आने से पहले ही देश में बेरोज़गारी उच्च स्तर पर थी। और फिर, पिद्दी-से कोरोनावायरस ने देश की अर्थव्यवस्था को ढहा दिया और भयावह मानवीय त्रासदी को जन्म दिया। यह खास तौर से मोदी सरकार के भीरूपन की वजह से हुआ। मोदी सरकार अंतरराष्ट्रीय एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग, जो नहीं चाहता कि वित्तीय घाटा बढ़े, को नाराज़ करके अपना खर्च बढ़ाकर लोगों को पर्याप्त राहत पैकेज देने को लेकर अनिच्छुक थी।

वैसे साम्राज्यवाद द्वारा भारत के शासन के लिए निर्धारित ढांचे के भीतर भी, मोदी सरकार चाहती तो इन शर्तों को न मानने के लिए महामारी को बहाने के तौर पर इस्तेमाल कर सकती थी, खास तौर से जब युरोप और यूएसए स्वयं भी अपनी-अपनी संकटग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं को राहत देने के लिए अत्यधिक वित्तीय घाटे का सहारा ले रहे थे। लेकिन मोदी सरकार में इतना साहस नहीं था, और न ही अपने लोगों के प्रति चिंता थी जो उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित करती।

अनियोजित लॉकडाउन ने अनौपचारिक व औपचारिक दोनों क्षेत्रों को चोट पहुंचाई। हालांकि लॉकडाउन की वजह से गंवाई गई नौकरियों को लेकर कोई सरकारी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन सीएमआईई (Centre for Monitoring Indian Economy, एक प्रमुख निजी व्यवसायिक सूचना कंपनी) का अनुमान है कि अप्रैल–अगस्त 2020 की अवधि में 2.1 करोड़ वेतनशुदा नौकरियां खत्म हुई थीं (इस आंकड़े में अनौपचारिक व औपचारिक दोनों क्षेत्र शामिल हैं — औद्योगिक श्रमिक, सफेदपोश कर्मचारी, बाइयां, रसोइए, बागवान, वगैरह)।[145]

अर्थव्यवस्था में बड़ी संख्या में नौकरियां अनौपचारिक क्षेत्र में गैर-वेतनशुदा नौकरियां हैं। यह क्षेत्र कुल कार्यबल में से 92% लोगों को रोज़गार प्रदान करता है। लॉकडाउन ने इस क्षेत्र को तबाह कर दिया — एक विश्वसनीय अनुमान के मुताबिक वित्तीय वर्ष 2020–21 की प्रथम तिमाही में इस क्षेत्र में 70–80% की गिरावट आई।[146] परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में

काम करने वाले करोड़ों लोग (दिहाड़ी मज़दूर, स्व-रोज़गारी, वगैरह) बेरोज़गार हो गए। एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार, सूक्ष्म उद्योंगो के 63% कामगार अपने रोज़गार गंवा बैठे।[147] देश में बेरोज़गारी आसमान छूने लगी। सीएमआईई के अनुसार देश में बेरोज़गारी दर अप्रैल 2020 में अभूतपूर्व 23.5% पहुंच गई थी।

सरकार ने जून के बाद धीरे-धीरे लॉकडाउन खोलना शुरू किया है। और उसके साथ ही, अर्थव्यवस्था भी धीरे-धीरे पटरी पर आने लगी है। सरकार द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक 2020–21 की दूसरी तिमाही (जुलाई–सितंबर) में जीडीपी का अनुमान –7.5% बताया गया है। यह इससे पहले की तिमाही की गिरावट (–23.9%) से बेहतर है।

अलबत्ता, सरकार के राहत पैकेज की कंजूसी के चलते, जीडीपी में यह सुधार आम लोगों की ज़िंदगी के हालात में सुधार की वजह से नहीं है। जीडीपी के घटकों के सम्बंध में सरकारी आंकड़ों से यह अनुमान लगाया जा सकता है। ये आंकड़े दर्शाते हैं कि जीडीपी में सुधार के साथ-साथ कामगार लोगों के प्रति व्यक्ति उपभोग में वृद्धि नहीं हुई है; जीडीपी में सुधार मुख्य रूप से कार्पोरेट क्षेत्र द्वारा निजी निवेश में वृद्धि के चलते आया है। इस प्रकार की बहाली ज़्यादा लंबे समय तक जारी नहीं रह सकती क्योंकि निजी कार्पोरेट निवेश पर्याप्त रूप से तभी बढ़ सकता है जब मांग में वृद्धि हो। लेकिन मांग बाधित है क्योंकि सरकार लोगों के हाथों में क्रय शक्ति देना नहीं चाहती। लिहाज़ा, ऐसी आर्थिक बहाली टिकाऊ नहीं है; जल्दी ही यह बुलबुला फूट जाएगा।[148]

सरकारी अर्थशास्त्री भविष्यवाणी कर रहे हैं कि लॉकडाउन शिथिल होने के साथ, भारतीय अर्थव्यवस्था एक V-आकृति की बहाली की ओर अग्रसर है। ऊपर किए गए विश्लेषण से तो लगता है कि इस दावे पर संदेह के कई कारण हैं। लेकिन एक बात पक्के तौर पर कही जा सकती है: मोदी सरकार में साम्राज्यवादी ताकतों का सामना करके लोगों के लिए एक ठीक-ठाक राहत पैकेज मंज़ूर करने के साहस के अभाव के चलते बेरोज़गारी उच्च स्तर पर बनी रहेगी।

महामारी और दलित–आदिवासी–महिला बेरोज़गारी

और जैसे की अपेक्षा की जानी चाहिए, दलित और आदिवासी कोरोना संकट से सबसे बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। सीएमआईई के आंकड़े और अनौपचारिक सर्वेक्षणों के आधार पर किए गए अध्ययन दर्शाते हैं कि:

- सख्त लॉकडाउन की अवधि में 51% दलितों और 37% आदिवासियों ने अपनी नौकरियां गंवा दी; उच्च जातियों के लिए यह आंकड़ा कहीं कम, मात्र 31% रहा। क्रमिक ढंग से लॉकडाउन खुलने के बाद जो बहाली हुई, उसमें दलितों की स्थिति बेहतर रही: उच्च जाति के 17% कामगारों की तुलना में 27% दलितों का काम बहाल हो गया (आदिवासियों के लिए आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं)। दलितों के लिए नौकरियों की ज़्यादा क्षति और ज़्यादा तेज़ी से बहाली, दोनों शायद इस वजह से हुए

क्योंकि वे अनौपचारिक और कम आय वाले कामों में ज़्यादा संलग्न हैं।

उपलब्ध आंकड़े बताते हैं कि क्रमिक रूप से लॉकडाउन खुलने के साथ रोज़गार की बहाली काफी हद तक अनौपचारिक गैर-वेतनशुदा रोज़गार पर टिकी थी, जो औपचारिक वेतनशुदा स्थायी नौकरियों की अपेक्षा नाज़ुक स्थिति में होता है। इसने दलितों और आदिवासियों को उच्च जातियों की अपेक्षा ज़्यादा प्रभावित किया जिसके चलते विभिन्न जाति समूहों के बीच काम की गुणवत्ता का अंतर और बढ़ गया — अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में दलित और आदिवासी स्थायी नौकरियों और वेतनशुदा अस्थायी नौकरियों जैसे बेहतर रोज़गारों से दिहाड़ी मज़दूरी में चले गए। उदाहरण के लिए, 18% दलित व आदिवासी स्थायी काम से दिहाड़ी मज़दूरी की ओर चले गए; उच्च जातियों के कामगारों के लिए यह आंकड़ा मात्र 3% था।[149]

इसका मतलब यह भी है कि उच्च जातियों की अपेक्षा दलितों और आदिवासियों ने बढ़ती गरीबी का दंश भी ज़्यादा झेला। बहुआयामी गरीबी पर केंद्रित एक हालिया यूएनडीपी रिपोर्ट बताती है कि बहुआयामी गरीबी उन लोगों को गैर-आनुपातिक रूप से प्रभावित करती है जो सामाजिक भेदभाव का सामना कर रहे होते हैं। बहुआयामी गरीबी सरकारों द्वारा इस्तेमाल की गई परिभाषा की अपेक्षा गरीबी का कहीं अधिक सटीक मापन करती है। रिपोर्ट के मुताबिक, भारत में बहुआयामी गरीबी का सामना कर रहे 6 में से 5 लोग अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हैं![150]

महामारी ने तो महिला रोज़गार को तहस-नहस ही कर दिया, जो पहले से ही कम था। लॉकडाउन के दौरान जहां 39% पुरुषों ने नौकरियां गंवाईं वहीं नौकरी गंवाने वाली औरतों का आंकड़ा पूरा 81% रहा। और फिर जब लॉकडाउन धीरे-धीरे खुला, तो मात्र 7% पुरुष नौकरी के बगैर रहे (यानी 32% काम पर लौट गए), वहीं 47% महिलाएं 2020 के अंत तक काम पाने में नाकाम रही हैं।[151]

➢ फासीवादी मोदी सरकार द्वारा नवउदारवादी एजेंडा के क्रियांवयन को रफ्तार देना भारत में बेरोज़गारी के भयावह संकट का चौथा और सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

5. विभिन्न क्षेत्रों पर फासीवादी नवउदारवाद का असर

परिपाटी के तहत अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बांटा जाता है: कृषि, उद्योग (जिसे मैन्यूफेक्चरिंग और गैर-मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्रों में बांटा जाता है) और सेवाएं।

बेरोज़गारी के संकट को बेहतर समझने के लिए अब हम इनमें से प्रत्येक क्षेत्र पर नवउदारवादी सुधारों के असर को थोड़ा करीबी से देखेंगे। फासीवादी मोदी राज के दौरान इन सुधारों में तेज़ी आई है — इसका इन क्षेत्रों में रोज़गार सृजन पर क्या असर हुआ है, उस पर हम खास तौर पर ध्यान केंद्रित करेंगे।

i. कृषि

हालांकि देश के जीडीपी में कृषि का योगदान 1960 के 41.3% से घटकर 1991 में 27.3% रह गया था और 2018 में तो यह मात्र 14.6% रह गया था,[152] लेकिन जीविका के लिहाज़ से देखें तो यह आज भी देश का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है। 2017–18 में देश के कुल कार्य बल में से 44% लोग अपनी जीविका के लिए इस क्षेत्र पर निर्भर थे (तालिका 11 देखें)।

जब 2014 में मोदी सरकार सत्ता में आई थी, दो दशकों से अधिक की नवउदारवादी नीतियों के चलते कृषि पहले से ही गहरे संकट में थी। 1991 के बाद से एक के बाद एक केंद्र में आई सरकारों ने:

- कृषि पर सार्वजनिक निवेश में कटौती की;
- कृषि के लिए ज़रूरी प्रमुख निविष्टियां (जैसे उर्वरक, बिजली और सिंचाई) पर सब्सिडी में कटौती की;
- कृषि उत्पादों को समर्थन (कृषि उपज के सरकारी खरीद के रूप में) क्रमिक रूप से कम किया;
- कृषि के लिए (सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा) दिए जाने वाले रियायती ऋणों में क्रमिक रूप से कटौती की; और
- विकसित देशों से अत्यंत रियायती मूल्यों पर कृषि उत्पादों के आयात को मंज़ूरी दी।[153]

भारतीय कृषि पर इस चौतरफा हमले के चलते ग्रामीण ऋणग्रस्तता बहुत बढ़ी। एनएसएसओ ने 2012–13 में कृषि परिवारों का आज तक का सबसे विस्तृत सर्वेक्षण किया था। इसमें पता चला था कि देश के 52% कृषि परिवार कर्ज़ में डूबे हैं। देश में प्रति कृषि परिवार औसत कर्ज़ 47,000 रुपए था जबकि प्रति परिवार खेती से वार्षिक आमदनी मात्र 36,972 रुपए थी।[154]

दो दशकों की वैमनस्यपूर्ण नीतियों की मार और बदतर होते कर्ज़ के संकट ने भारत के मेहनती किसानों को ऐसी निराशा में धकेल दिया कि वे रिकॉर्ड संख्या में खुदकुशी करने लगे। 1995 के बाद से देश में किसान आत्महत्याओं की कुल संख्या ने 2014 में 3 लाख का आंकड़ा पार कर लिया था।[155]

मोदी सरकार: आज़ादी के बाद की सबसे अधिक किसान विरोधी सरकार

2014 के लोक सभा चुनाव के दौरान मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा ने वादा किया था कि वह इस कृषि संकट से निपटने के लिए ठोस कदम उठाएगी और खेती को लाभ का धंधा बनाएगी। उसने भारी बहुमत से चुनाव जीता। उसके बाद से, मोदी सरकार ने अपने हर

चुनावी वादे पर पलटी मारी और वास्तव में खेती में नवउदारवादी एजेंडा के क्रियांवयन को और गति दी है।

उदाहरण के लिए, उसके इस महत्वपूर्ण चुनावी वादे को देखिए कि वह स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों को लागू करेगी और किसानों को इतना न्यूनतम समर्थन मूल्य देगी जो समग्र उत्पादन लागत (जिसे C2 कहते हैं) से 50% अधिक होगा। वर्ष 2015 में मोदी सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में हलफनामा प्रस्तुत किया कि इस वादे को पूरा करना संभव नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर बाज़ार में विकृतियां पैदा होंगी। उसके बाद, 2018 से, वह दावा करती जा रही है कि उसने 2014 के चुनाव में किया वादा पूरा कर दिया है और सारी फसलों के लिए उत्पादन लागत से 50% अधिक का न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित कर दिया गया है। ऐसा करते हुए मोदी सरकार ने एक आसान से करतब का सहारा लिया — उसने उत्पादन की लागत की गणना करने का सूत्र ही बदल दिया, जिसके चलते उत्पादन की लागत कम हो गई।[156]

किसान जिस समस्या का सामना कर रहे हैं, वह मात्र इतनी नहीं है न्यूनतम समर्थन मूल्य कितना लाभदायक है; ज़्यादा बड़ी समस्या यह है कि अधिकांश किसानों को अपनी फसल के लिए इतनी कीमत मिलती ही नहीं। सरकारी खरीद मुख्य रूप से दो फसलों — गेहूं और चावल — की होती है। इन फसलों के लिए भी सरकारी खरीद देश में इनके कुल उत्पादन में से लगभग एक-तिहाई की ही होती है। शेष फसल निजी व्यापारी खरीदते हैं। 2015 में सरकार को सौंपी गई शांता कुमार समिति रिपोर्ट के मुताबिक, मात्र 6% किसान ही सरकारी खरीद से लाभान्वित होते हैं और न्यूनतम समर्थन मूल्य पर फसल बेच पाते हैं।[157]

तालिका 8: खाद्य सब्सिडी के लिए बजट आवंटन, 2014 और 2020 *(करोड़ रु. में)*

	2014–15 वा.	***2020–21 ब.अ.***
खाद्य सब्सिडी	1,17,671	1,15,570
खाद्य सब्सिडी, बजट आवंटन के % के रूप में	7.07	3.8

अर्थात, सरकार को कृषि उपज की अपनी खरीद को बढ़ाना चाहिए था, और यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाने चाहिए थे कि निजी व्यापारियों द्वारा खरीदी जा रही उपज के भी किसानों को उचित मूल्य मिलें। इसके विपरीत, सरकार ने खरीद के लिए अपना बजट आवंटन कम कर दिया है। यह आवंटन बजट शीर्ष 'खाद्य सब्सिडी' के तहत किया जाता है। बजट दस्तावेज़ों से पता चलता है कि वर्ष 2020–21 में मोदी सरकार का खाद्य सब्सिडी के लिए आवंटन 2014–15 (वास्तविक) से भी कम है; बजट के प्रतिशत के रूप में देखें तो पिछले 6 वर्षों में यह आवंटन आधा रह गया है (तालिका 8)।

हमारे किसानों के प्रति मोदी सरकार की चरम संवेदनहीनता किसान आंदोलन की लंबे समय से चली आ रही मांग — कृषि ऋणों की माफी — के प्रति उसके रवैये से भी

ज़ाहिर होती है। हालांकि मात्र इतने से कृषि संकट का समाधान नहीं होगा, लेकिन कृषि क्षेत्र को पुनर्जीवित करने का कोई भी नीतिगत पैकेज इसी से शुरू करना होगा ताकि किसान नए सिरे से शुरू कर सकें। ग्रामीण इलाकों में खुदकुशियों का जो आलम है, उसका मुख्य कारण ऋण का बढ़ता बोझ ही है। लेकिन मोदी सरकार ने इस मांग को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है। समाचार रिपोर्ट्स का अनुमान है कि 2017 में इसके लिए सरकार को लगभग 3 लाख करोड़ रुपए खर्च करने पड़ते।[158] ऐसा नहीं है कि सरकार इतना खर्च करने की स्थिति में नहीं है — उसने इससे कई गुना राशि के कार्पोरेट ऋणों को माफ किया है। कार्पोरेट ऋण को माफ करने की अपेक्षा कृषि ऋण माफी अर्थव्यवस्था व लोगों के लिए भी कहीं अधिक लाभदायक होगी — भारत के कार्पोरेट घराने मात्र 1.5 करोड़ लोगों को रोज़गार देते हैं,[159] जबकि खेती 20 करोड़ से ज़्यादा लोगों को रोज़गार देती है। लेकिन नवउदारवाद इसी को तो कहते हैं!

जो आंकड़े कृषि क्षेत्र के प्रति मोदी सरकार के सरोकार के अभाव को सबसे अच्छी तरह से दर्शाते हैं, वे उसके बजट खर्च के हैं। 2020 के बजट कागज़ातों से पता चलता है कि कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय तथा कृषि से निकट से सम्बंधित मत्स्य पालन, पशुपालन और डेयरी मंत्रालय के लिए सरकारी आंवटन मात्र 1.47 लाख करोड़ रुपए है। यह कुल बजट का महज़ 4.8% है और जीडीपी का मात्र 0.65%। यह उस क्षेत्र के लिए जिस पर देश की लगभग 50% आबादी जीविका के लिए निर्भर है! मोदी सरकार के पिछले बजटों का अनुभव बताता है कि वास्तविक खर्च बजट अनुमान से काफी कम हो सकता है।

तालिका 9: भाजपा सरकार द्वारा कृषि सम्बंधी क्षेत्रों के लिए आवंटन, 2019–21[160]
(करोड़ रुपए में)

	2018–19 (सं.अ.)	***2018–19 (वा.)***	***2019–20 (ब.अ.)***	***2019–20 (सं.अ.)***	***2020–21 (ब.अ.)***
कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय + मत्स्य पालन, पशुपालन एवं डेयरी विभाग/मंत्रालय (1)	79,026	56,791	1,42,301	1,13,240	1,46,877
जीडीपी के % के रूप में (1)	0.42	0.30	0.70	0.55	0.65
बजट प्रावधान के % के रूप में (1)	3.22	2.45	5.11	4.20	4.83

मोदी वर्षों के दौरान कृषि में नवउदारवादी नीतियों के तेज होने के कारण कृषि संकट और भी गंभीर हो गया है। औसत कृषि विकास दर यूपीए के वर्षों (2004–14) के दौरान

3.7% थी, वह पिछले छह वर्षों (2014–20) के दौरान गिरकर 3.2% रह गई है। किसान आत्महत्याओं में कोई कमी नहीं आई है। एनसीआरबी के आंकड़े बताते हैं कि 2014–19 की छह साल की अवधि के दौरान 67,000 किसानों ने आत्महत्या की।[161]

मोदी सरकार खेती का गला क्यों घोंट रही है?

मोदी सरकार की कृषि नीतियों के पीछे निहित मंशा नीति आयोग के हालिया दस्तावेज़ से ज़ाहिर हो जाती है। इसमें कहा गया है:

> जब कार्पोरेट क्षेत्र घरेलू व वैश्विक बाज़ार में उभरते अवसरों का फायदा उठाने लिए कृषि व्यापार (एग्रीबिज़नेस) में निवेश करने को उत्सुक है, तो यह सही वक्त है कि ऐसे सुधार किए जाएं जो इस क्षेत्र में व्यापार हेतु स्वस्थ माहौल का निर्माण करें। छोटा पैमाना इस उद्योग के विकास में प्रमुख बाधा रहा है।[162]

सरकार के चिंतन निकाय की यह रिपोर्ट सरकार के कृषि एजेंडा को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है — सरकार छोटे पैमाने की खेती को कार्पोरेट खेती में तबदील करना चाहती है। एक अन्य सरकारी दस्तावेज़ लक्ष्य भी स्पष्ट कर देता है — सरकार की कोशिश है कि अगले पांच सालों में कृषि में लगी आबादी को 20% कम किया जाए।

कोरोना महामारी और मोदी सरकार का गुप्त एजेंडा

महामारी का फायदा उठाकर, मोदी सरकार ने अपने कुटिल एजेंडा के क्रियांवयन को रफ्तार दे दी है। जून 2020 में उसने कृषि सम्बंधी तीन अध्यादेश लागू किए और फिर सितंबर में इन अध्यादेशों का स्थान लेने के लिए तीन विधेयक संसद में पारित करवा लिए जबकि विपक्षी दल और किसान इनका पुरज़ोर विरोध कर रहे थे।

ये तीन कानून मिलकर छोटे किसानों को तबाह कर देंगे, उन्हें खेती छोड़ने को मजबूर करेंगे और धीरे-धीरे कृषि व्यवसाय से जुड़ी कॉर्पोरेशन्स को उनकी ज़मीनों पर नियंत्रण हासिल करने और बड़े-बड़े खेत स्थापित करने का मौका देंगे। यह वह एजेंडा है जिसे साम्राज्यवादी देशों की विशाल कृषि व्यवसाय निगमें लंबे समय से भारत पर वैश्वीकरण के एक हिस्से के रूप में थोपना चाह रही थीं। मोदी सरकार आज्ञाकारी ढंग से उनके फरमानों को क्रियांवित कर रही है।

इसके अलावा, ये सुधार लाखों आढ़तियों की जीविका भी तबाह कर देंगे। ये वे लोग हैं जो फिलहाल मंडियों में किसानों से उनकी उपज खरीदते हैं। इन सुधारों के परिणामस्वरूप देश में 'भूख व कुपोषण' का संकट भी अधिक विकट हो जाएगा क्योंकि ये कानून हमारी सार्वजनिक वितरण प्रणाली (राशन प्रणाली) को नष्ट कर देंगे।

और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि 'राष्ट्रवादी भाजपा सरकार' द्वारा इन कानूनों को पारित करवाने से देश की खाद्य सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी, जिसके चलते देश की संप्रभुता पर आंच आएगी।[163]

परिणाम: कृषि रोज़गार में गिरावट

1991 के बाद से, जैसे-जैसे कृषि क्षेत्र विश्व बैंक द्वारा निर्देशित नवउदारवादी सुधारों के क्रियावंयन के चलते संकट में फंसता गया, कृषि में रोज़गार की वृद्धि घटते-घटते ऋणात्मक हो गई (तालिका 10)।

तालिका 10: खेतिहर रोज़गार, सुधार से पहले और सुधार-उपरांत वर्षों में[164]
(करोड़ में)

	खेतिहर रोज़गार	**सीएजीआर: 1983 से 1993–94**
1983	20.723	
1993–94	24.15	1.47%
1999–2000	24.66	**सीएजीआर 1.47% के साथ अनुमानित रोज़गार**
2009–10	24.49	
2017–18	20.53	34.75

मोदी के कार्यकाल में इन सुधारों में आई तेज़ी की वजह से कृषि संकट इस हद तक बिगड़ा है कि इस क्षेत्र में रोज़गार सृजन पूरी तरह ठप हो गया है। यहां तक कि 2017–18 में कृषि रोज़गार घटकर 1983 के स्तर से भी नीचे चला गया था। यदि सुधार-उपरांत के वर्षों में कृषि रोज़गार उसी दर से बढ़ता रहता जैसे कि 1983 से 1993–94 की अवधि में बढ़ रहा था (जब सीएजीआर 1.47% था), तो 2017–18 में कृषि रोज़गार वर्तमान 20.53 करोड़ की बजाय 34.75 करोड़ होता — अर्थात कृषि में 14.2 करोड़ अतिरिक्त लोगों को रोज़गार मिला होता।

(ध्यान दें कि उपरोक्त तर्क देते हुए हमने पारंपरिक विकास सिद्धांत को खारिज किया है, जिसके मुताबिक खेतिहर रोज़गार में कमी आर्थिक विकास की द्योतक मानी जाती है। इस सिद्धांत में मानकर चला जाता है कि जैसे-जैसे पूंजीवाद समाज में व्याप्त होता है, किसान खेती से विस्थापित होते हैं, लेकिन जितने रोज़गार कृषि में ख़त्म होते हैं उससे ज्यादा नौकरियों का सृजन मैन्यूफेक्चरिंग और सेवा क्षेत्र में होता है। लेकिन ऐसा पश्चिम में भी नहीं हुआ। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में कृषि में पूंजीवाद के विकास ने बहुत अधिक बेरोज़गारी पैदा नहीं की थी, तो इसलिए नहीं कि औद्योगीकरण ने पर्याप्त नौकरियां पैदा कर दी थीं बल्कि इसलिए कि यूरोप ने अपनी अतिरिक्त आबादी को अमरीकी महाद्वीप और अन्य उपनिवेशों को निर्यात कर दिया था! ऐसा करना भारत के लिए संभव नहीं है; खेती से विस्थापित लोगों को हम कहां निर्यात करेंगे? महात्मा गांधी ने एकदम सही कहा था कि विकास का हमारा मॉडल पश्चिम से अलग होना पड़ेगा; हमें ग्रामीण क्षेत्रों के विकास और वहां रोज़गार के अवसर पैदा करने पर ध्यान देना होगा — नेहरू ने भी अपने निधन से कुछ समय पहले यह बात समझ ली थी।)

ii. मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र

मुख्यधारा के अर्थशास्त्र का दावा है कि वैश्वीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश से मैन्यूफेक्चरिंग (विनिर्माण) क्षेत्र में भारी संख्या में नौकरियों का सृजन होगा। ये उम्मीदें पूरी तरह झुठला दी गई हैं। कुल रोज़गार में मैन्यूफेक्चरिंग रोज़गार का हिस्सा अंशमात्र ही बढ़ा है — 1993–94 में यह 10.4% था, 2017–18 में 12.1% हो गया (देखें तालिका 11)। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है; जैसे कि ऊपर चर्चा की है, बहुराष्ट्रीय कंपनियां जितनी नौकरियां पैदा करती हैं, उससे कहीं अधिक नष्ट कर देती हैं।

और इसलिए जैसे-जैसे वैश्वीकरण आगे बढ़ा है और अधिकाधिक संख्या में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रवेश किया है, मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में रोज़गार सृजन धीमा पड़ने लगा है। मैन्यूफेक्चरिंग में रोज़गार का सीएजीआर 1994–2005 की अवधि में 3.01% था जो 2005–12 की अवधि में गिरकर 1.49% रह गया। वास्तविक संख्या में देखें,[165] तो मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में 1994 से 2012 के बीच की 18 वर्ष की अवधि में मात्र 2.09 करोड़ नौकरियां निर्मित हुईं (तालिका 11)। यदि यह माना जाए कि प्रति वर्ष 90 लाख युवा नौकरी के बाज़ार में प्रवेश करते हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि इस अवधि में 90 x 18 = 1620 लाख यानी 16.20 करोड़ व्यक्ति रोज़गार की मंडी में शामिल हुए होंगे[166] और इनमें से मात्र 12.9% को मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में काम मिला होगा।

तालिका 11: विभिन्न क्षेत्रों में रोज़गार का हिस्सा[167] *(करोड़ में)*

क्षेत्र	*1993–94*	*2004–05*	*2011–12*	*2017–18*
कृषि	24.15	26.86	23.19	20.53
मैन्यूफेक्चरिंग	3.89	5.39	5.98	5.64
गैर-मैन्यूफेक्चरिंग	1.58	2.94	5.53	5.89
इसमें: निर्माण	*1.17*	*2.56*	*5.03*	*5.43*
सेवा	7.77	10.73	12.73	14.44
कुल कार्य बल	**37.4**	**45.91**	**47.42**	**46.51**

मोदीराज में...

मोदी सरकार द्वारा नवउदारवाद को गति देने — विशेष रूप से श्रम कानूनों को कमज़ोर करने और मालिकों को मज़दूरों को काम पर रखने और निकालने की खुली छूट देने — के चलते मैन्यूफेक्चरिंग रोज़गार पूरी तरह से चरमरा गया है। 2011–12 से 2017–18 के छह वर्षों के दौरान कुल मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र की नौकरियों में वास्तव में गिरावट आई है (तालिका 11)।

वास्तविक स्थिति और भी बदतर

मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में नौकरियों की हालत उपरोक्त आंकड़ों द्वारा वर्णित परिस्थिति से कहीं अधिक बदतर है। मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र को लेकर आम समझ यह है कि वह एक आधुनिक क्षेत्र है जहां श्रम की उत्पादकता अपेक्षाकृत रूप से ज्यादा है और अच्छी तनख्वाह वाली नौकरियां हैं। लेकिन वास्तविक तस्वीर इससे बहुत भिन्न है। भारत में 5.64 करोड़ मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र की नौकरियों में से केवल 1.81 करोड़ नौकरियां संगठित क्षेत्र में हैं; शेष, यानी दो-तिहाई से अधिक नौकरियां असंगठित क्षेत्र में अनौपचारिक नौकरियां हैं — जैसे, वो लोग जो घर पर पापड़ बनाने या बीड़ी बनाने का काम करते हैं। हमारी सरकार की भाषा में ये भी 'मैन्यूफेक्चरिंग नौकरियां' हैं — 'सूक्ष्म मैन्यूफेक्चरिंग उद्यमों' में (तालिका 12)।[168]

तालिका 12: मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में संगठित / असंगठित तथा औपचारिक / अनौपचारिक रोज़गार का हिस्सा, 2017–18[169] *(लाख में)*

	औपचारिक	*अनौपचारिक*	*कुल*
संगठित	74 (40.9%)	107 (59.1%)	181
असंगठित	13	370	383
कुल	87 (15.4%)	477 (84.6%)	564

(कोष्ठक में दिए गए आंकड़े कुल का प्रतिशत हैं।)

और तो और, संगठित क्षेत्र के अंतर्गत भी, कार्य बल के बढ़ते ठेकेदारीकरण के चलते अधिकांश नौकरियां (59%) अनौपचारिक क्षेत्र में हैं (तालिका 12)।

इसका परिणाम यह हुआ है कि मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में औपचारिक नौकरियां मात्र 15.4% हैं — ऐसी नौकरियां जिन्हें अच्छी नौकरी कहा जा सकता है और जिनमें ठीक-ठाक वेतन मिलता है, रोज़गार सुरक्षित है और सामाजिक सुरक्षा के कुछ लाभ मिलते हैं। संख्या के रूप में देखें तो ऐसी नौकरियों की संख्या मात्र 87 लाख है, यानी 2017–18 में कुल कार्य बल (46.51 करोड़) का महज 1.9%।

iii. गैर-मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र: निर्माण

इस क्षेत्र में निर्माण क्षेत्र का प्रभुत्व है; वह इस क्षेत्र की 92% नौकरियों के लिए जिम्मेदार है।

1993–94 से 2017–18 की 24 वर्ष की अवधि में निर्माण उप-क्षेत्र में 4.26 करोड़ नौकरियों का सृजन हुआ। तालिका 11 से स्पष्ट है कि इन 24 वर्षों में इस क्षेत्र में रोज़गार सृजन सबसे तेज रहा है। सम्पूर्ण मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र में जितने रोज़गार हैं, इस उप-क्षेत्र में अब लगभग उतने ही लोग काम करते हैं।

निर्माण रोज़गार में से करीब एक-चौथाई संगठित क्षेत्र में हैं (तालिका 13)।[170] ये नौकरियां बड़े पैमाने की परियोजनाओं में संलग्न बड़ी-बड़ी निर्माण कंपनियों में होंगी। लेकिन इन नौकरियों में से अधिकांश अनौपचारिक नौकरियां हैं: संगठित निर्माण क्षेत्र की नौकरियों में से मात्र 3.2% ही औपचारिक नौकरियां हैं! देश के ढीले-ढाले श्रम कानूनों का फायदा उठाकर निर्माण कंपनियां औपचारिक कर्मचारी रखती ही नहीं हैं।

तालिका 13: गैर-मैन्यूफेक्चरिंग क्षेत्र में संगठित / असंगठित तथा औपचारिक / अनौपचारिक रोज़गार का हिस्सा, 2017–18[171] *(करोड़ में)*

	औपचारिक	*अनौपचारिक*	*कुल*
संगठित	0.05	1.49	1.54
असंगठित	0.26	4.09	4.35
कुल	0.31	5.59	5.89

निर्माण क्षेत्र में असंगठित / अनौपचारिक मज़दूर भयानक परिस्थितियों में काम करते हैं। वे चिकित्सा सुविधाएं, अपंगता का मुआवज़ा, बच्चों के लिए शिक्षा और ठीक-ठाक आवास जैसी कल्याणकारी सुविधाओं से पूरी तरह से वंचित हैं। फिर भी, भारत की वैश्वीकृत होती अर्थव्यवस्था में जिस क्षेत्र में रोज़गार सृजन की दर सबसे तेज है, उस क्षेत्र में कुल रोज़गार का 95% ऐसी ही नौकरियां हैं।

iv. सेवा क्षेत्र

देश में कृषि के बाद यह क्षेत्र अभी भी सबसे बड़ा नियोक्ता बना हुआ है, और सभी गैर-कृषि नौकरियों में से 50% से अधिक नौकरियां इस क्षेत्र में हैं। यही वह क्षेत्र भी है जहां वैश्वीकरण के दौर में सर्वाधिक नौकरियां पैदा हुई हैं: 1994–2018 की 24 वर्ष की अवधि में इस क्षेत्र में 6.67 करोड़ नौकरियां पैदा हुईं (तालिका 11)।

तालिका 14: सेवा क्षेत्र में औपचारिक रोज़गार का हिस्सा, 2004–05 और 2017–18 *(करोड़ में)*

	2004–05	*2017–18*
कुल औपचारिक नौकरियां	2.06	3.1
सेवा क्षेत्र में कुल नौकरियों में औपचारिक नौकरियों का %	19.2%	21.5%

इस क्षेत्र में अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक औपचारिक नौकरियां हैं — कुल औपचारिक रोज़गार का 72% इस क्षेत्र में है।[172] ये नौकरियां मुख्यत: वित्त, बीमा, रियल एस्टेट, अन्य व्यापारिक गतिविधियों, तथा अन्य सामाजिक सेवाओं (जैसे मीडिया व मनोरंजन) में केंद्रित हैं।

2004–05 से 2017–18 की अवधि में सेवा क्षेत्र के भीतर कुल औपचारिक रोज़गार का हिस्सा थोड़ा बढ़ा है (तालिका 14)। फिर भी, इस क्षेत्र में भी अधिकांश नौकरियां (करीब 80%) अनौपचारिक नौकरियां ही हैं।

सेवा क्षेत्र की आधी से ज़्यादा (56%) नौकरियां मात्र चार उप-क्षेत्रों में सिमटी हैं:

- फुटकर व्यापार – 3.73 करोड़ (25.8%);
- ज़मीनी यातायात (टैक्सियां, ऑटो रिक्शा, ट्रक, सायकल रिक्शा, वगैरह) – 2.09 करोड़ (14.5%);
- होटल व रेस्तरां – 0.87 करोड़ (6%); और
- शिक्षा – 1.41 करोड़ (9.8%)।

इन नौकरियों की प्रकृति क्या है? 'व्यापार' के अंतर्गत हर किस्म के छोटे-मोटे विक्रेता शामिल हैं; ज़मीनी यातायात का मतलब ऑटो, टैक्सी व ट्रक चालकों से है, जो दिन-रात गाड़ी चलाकर इतना ही कमा पाते हैं कि किसी तरह से जिंदा रह सकें; और 'होटल व रेस्तरां' के अंतर्गत सड़क किनारे की छोटी-छोटी चाय और खानपान की दुकानों पर मिलने वाली अत्यंत कम वेतन वाली घटिया नौकरियां हैं। और अधिकांश शिक्षा नौकरियां देश भर में तेजी से खुल रहे निजी स्कूलों और कॉलेजों में संविदात्मक, कम वेतन वाली, असुरक्षित नौकरियां होनी चाहिए।

v. सार्वजनिक क्षेत्र बनाम निजी क्षेत्र में रोज़गार

उपरोक्त आंकड़ों में सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों का रोज़गार शामिल है।

आज़ादी के बाद के दशकों में देश में सार्वजनिक क्षेत्र का रोज़गार लगातार बढ़ा — 1961 में 70.5 लाख से बढ़कर 1991 में 190.6 लाख पहुंच गया (तालिका 4 देखें)।[173] लेकिन वैश्वीकरण की शुरुआत के साथ बात पलट गई है।

विश्व बैंक निर्देशित नवउदारवादी एजेंडा का तकाज़ा है कि भारत सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का निजीकरण करे और शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता और यहां तक कि भोजन और पीने का पानी जैसी कल्याणकारी सेवाओं पर अपने खर्च को कम करे और इन सेवाओं का निजीकरण भी कर दे। इसके चलते सार्वजनिक क्षेत्र की नियुक्तियों में भारी कमी आई है। हमने ऊपर तालिका 4 में आंकड़े दिए हैं: 1991–2012 की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल रोज़गार (केंद्रीय, प्रांतीय, स्थानीय सरकार और अर्ध-सरकारी संस्थाओं में) 190.6 लाख से घटकर 176.1 लाख रह गया। (अर्ध-सरकारी संस्थाओं में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम, बिजली बोर्ड, सड़क परिवहन निगम, वगैरह आते हैं।) यह गिरावट मैन्यूफेक्चरिंग, निर्माण और यातायात से लेकर सामुदायिक, सामाजिक व व्यक्तिगत सेवाओं तक, यानी अर्थव्यवस्था के हर दायरे में आई है।[174]

ये सार्वजनिक क्षेत्र में औपचारिक रोज़गार के सरकारी आंकड़े हैं। जब से वैश्वीकरण शुरू हुआ है, सरकार व सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम कर्मचारियों को ठेके पर भी नियुक्त कर रहे हैं। इनकी संख्याओं का कुछ अंदाज़ एनएसएसओ के सर्वेक्षण से लगाया जा सकता है, जिसकी गणना के अनुसार 2011–12 में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल रोज़गार (औपचारिक व अनौपचारिक को मिलाकर) 317 लाख था।[175] इसमें अनौपचारिक रोज़गार 141 लाख के आसपास रहा होगा (चूंकि 2012 में सार्वजनिक क्षेत्र में औपचारिक रोज़गार 176 लाख था)। इसका मतलब है कि सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत लगभग आधे कामगारों (45%) के पास सुरक्षित, ठीक-ठाक वेतन वाली नौकरियां नहीं थी बल्कि वे ठेके पर काम कर रहे थे।

मोदी राज में सार्वजनिक क्षेत्र का रोज़गार

जैसा कि पहले के एक खंड में कहा गया है, मोदी सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को त्वरित गति से बेचने में लगी है। इसके अलावा, उसने सामाजिक क्षेत्रों में अपने खर्चों में भारी कटौती की है।[176] लिहाज़ा, मोदी सरकार के छ: वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र के रोज़गार में और भी कमी आई होगी। अपनी आदत के अनुरूप, मोदी सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में औपचारिक रोज़गार के आंकड़े जारी करना बंद कर दिया है। अत:, हमारे पास 2012 के बाद देश में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के सरकारी आंकड़े नहीं हैं। केंद्र सरकार के विभिन्न दस्तावेज़ो व संसद में दिए गए जवाबों से पता चलता है कि केंद्र सरकार के विभिन्न विभागों व मंत्रालयों में 2014–19 के बीच रिक्त पदों की संख्या 4.2 लाख से बढ़कर 9.1 लाख हो गई थी। यह संख्या कुल स्वीकृत पदों की 22.8% थी। और इसमें यदि केंद्र सरकार द्वारा संचालित विभिन्न निकायों व संस्थानों को शामिल कर लिया जाए, तो 2019 में रिक्त पदों की संख्या बढ़कर 30.1 लाख हो जाती है। इसके अलावा, अखिल भारतीय राज्य सरकारी कर्मचारी संघ के अनुसार, विभिन्न राज्य सरकारों के विभागों और मंत्रालयों में भी रिक्त पदों की संख्या 30 लाख होगी। यदि यह मान लिया जाए कि इनमें से आधे रिक्त पद मोदी काल के समय के हैं तो इसका अर्थ है की 2019 में कुल सरकारी रोज़गार 160 लाख के आसपास होंगें।[177]

यदि सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार वैश्वीकरण-पूर्व की रफ्तार से बढ़ता रहता, तो 2018 में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल रोज़गार कम से कम 334 लाख हो गया होता।[178] दूसरे शब्दों में, नवउदारवादी नीतियां सार्वजनिक क्षेत्र में पूरी 170 लाख से अधिक नौकरियां खा गई हैं! और यदि सार्वजनिक क्षेत्र में इतनी ठीक-ठाक वेतन वाली नौकरियां पैदा हुई होतीं, तो निजी क्षेत्र में भी ज़्यादा नहीं तो कम से कम इतनी नौकरियां तो पैदा होतीं ही।

सारांश

1980 के दशक में उनके स्वायत्त पूंजीवादी विकास के मॉडल के संकटग्रस्त होने के कारण, भारतीय शासक वर्गों ने पूंजीवादी विकास को बनाए रखने के लिए नवउदारवादी विकास की रणनीति अपनाई। विकास का यह मॉडल विकास दर को बनाए रखने और यहां

तक कि उसे बढ़ाने में भी सफल रहा है, और धनी वर्ग बहुत समृद्ध हुए हैं, लेकिन यह समृद्धि नीचे टपकना बंद हो गई है। विकास रोज़गार सृजन से विसंबंधित हो गया है:

- पिछले तीन दशकों में, कृषि रोज़गार सृजन में इतनी अधिक गिरावट आई है कि कुल कृषि रोज़गार 1980 के दशक की शुरुआत में जितना था, आज उससे भी कम है।
- गैर-कृषि क्षेत्रों में रोज़गार सृजन इस गिरावट की भरपाई के लिए बहुत अपर्याप्त रहा है, जिसके चलते बेरोज़गारी में भारी वृद्धि हुई है। इतना ही नहीं, उद्योग और सेवाओं में अधिकांश नौकरियां कम वेतन वाली, असुरक्षित, और अनौपचारिक नौकरियां हैं, जिसने स्थिति को और बदतर बना दिया है। विभिन्न क्षेत्रों में कुल नौकरियों में अनौपचारिक नौकरियों की संख्या इस प्रकार है:
    - मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र – 85%
    - निर्माण क्षेत्र – 95%
    - सेवा क्षेत्र – लगभग 80%
- यहां तक कि सार्वजनिक क्षेत्र में भी (जो कुल कार्यबल के एक बहुत छोटे हिस्से को रोज़गार प्रदान करता है), लगभग 45% कामगार आज संविदा पर कार्यरत है।
- मोदी शासन के पिछले छह वर्षों के दौरान नवउदारवादी नीतियों में आई तेजी के परिणामस्वरूप बेरोज़गारी का संकट इतना विकट हो गया है कि अर्थव्यवस्था में कुल रोज़गार की संख्या में गिरावट आई है; ऐसा आजादी के बाद पहली बार हुआ है।

5. भारत में बेरोज़गारी के वास्तविक स्तर की गणना

हमने ऊपर चर्चा की है कि आधिकारिक आंकड़ों में 2017–18 में बेरोज़गारी की दर का अनुमान 6.1% का है। लेकिन अगर हम 'निरुत्साहित श्रमिकों' को बेरोज़गारों की संख्या में शामिल करते हैं, तो बेरोज़गारी की दर बढ़कर 22.5% हो जाती है।

बेरोज़गारी का यह ऊंचा आंकड़ा भी वास्तविकता से कम ही है।

जिन लोगों को रोज़गारशुदा माना जाता है, उनमें से 92% से अधिक अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते हैं। जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है, उनमें भी एक विशाल बहुमत या तो असुरक्षित, कम वेतन वाले, बगैर किसी सामाजिक सुरक्षा वाले काम करते हैं, जैसे निर्माण क्षेत्र में या सड़क किनारे के ढाबों में या सूक्ष्म उद्यमों में, या फिर स्व-रोज़गार में लगे हैं — खोमचों पर इडली या पानी पूरी बेचने में या सड़क किनारे सब्ज़ियां बेचने में, रिक्शा चालक और ऑटोरिक्शा चालक के रूप में, या घर पर अगरबत्ती बनाने और बीड़ी बनाने में — और बमुश्किल दो जून की रोटी का इन्तज़ाम कर पाते हैं। ये सारे लोग क्यों

ऐसे कम आमदनी वाले काम करते हैं? क्योंकि भारत में कोई बेरोज़गारी भत्ता नहीं है। इसलिए, लोग मजबूर होकर कोई भी उपलब्ध नौकरी करने लगते हैं या किसी भी किस्म का काम करते हैं, और जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ कमाने की कोशिश करते हैं।

भारत में सारे बेरोज़गारी सर्वेक्षण, चाहे श्रमिक ब्यूरो सर्वेक्षण हो या एनएसएसओ का सर्वेक्षण हो, या फिर सीएमआईई का निजी सर्वेक्षण हो, सभी मानते हैं कि अनौपचारिक क्षेत्र में संलग्न ये सारे लोग 'आमदनीजनक रोज़गार' में हैं, चाहे वे निर्वाह के स्तर से भी कम कमा रहे हों। इन लोगों को रोज़गारशुदा कहना वास्तव में एक मज़ाक है — ये सब एक ऐसी अर्थव्यवस्था के शिकार हैं जो ढंग की नौकरियां पैदा नहीं कर पा रही है। कोई भी मानवीय समाज इन्हें अर्ध-बेरोज़गार मानेगा और इनकी गिनती बेरोज़गारों में करेगा।

इस बात को अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा पारित आधुनिक मानव अधिकार घोषणा पत्रों में भी स्वीकार किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा द्वारा 1948 में ही पारित ऐतिहासिक 'सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणा पत्र' में स्पष्ट रूप से कहा गया है:[179]

> काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को न्यायपूर्ण व अनुकूल वेतन पाने का अधिकार है जो उसके व उसके परिवार के लिए मानव गरिमा के अनुरूप अस्तित्व सुनिश्चित करे। और यदि ज़रूरी हो, तो इसके साथ सामाजिक सुरक्षा के अन्य उपायों की पूरक व्यवस्था होनी चाहिए।

इसके बाद, संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा ने 1966 में 'अंतरराष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक वाचा' (The International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights) को भी अपनाया। इसमें सारे राष्ट्रों ने 'प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित व अनुकूल कार्य परिस्थितियों के अधिकार' को मान्य किया है और यह भी स्वीकारा है कि वे सुनिश्चित करेंगे कि सभी कामगारों को 'उचित वेतन' मिले जो 'उनके व उनके परिवार के लिए अच्छा जीवन' व्यतीत करने के लिए पर्याप्त हो।

इन्हीं अंतरराष्ट्रीय संधियों को स्वीकृति देते हुए विकसित देश, कम से कम अपने पूरक आंकड़ों में, अंशकालिक काम करने वाले और पूर्णकालिक काम के इच्छुक सारे लोगों को अल्प-रोज़गारशुदा (अर्ध-बेरोज़गार) मानते हैं और उनकी गिनती बेरोज़गारों में करते हैं। इन्हें 'अल्प-रोज़गारशुदा' मानकर वे कम से कम स्वीकार तो करते हैं कि वे इन सभी लोगों को ठीक-ठाक रोज़गार दे पाने में विफल रहे हैं।

जिस समय विश्व मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा तैयार कर रहा था, उसी समय हमारे देश के संस्थापक भारत के संविधान का मसौदा तैयार कर रहे थे। संविधान के भाग IV, जिसे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत कहते हैं, में राज्य से आव्हान किया गया है कि वह सारे कामगारों के लिए ऐसा निर्वाह वेतन सुनिश्चित करे जो उन्हें उम्दा जीवन स्तर दे सके, और अवकाश तथा सामाजिक व सांस्कृतिक अवसरों का पूरा आनंद उठाने में समर्थ बनाए (अनुच्छेद 43)। वैसे तो यह सही है कि नीति निर्देशक सिद्धांत कानूनी रूप से लागू

नहीं किए जा सकते लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे महत्वहीन हैं। इन नीति निर्देशक सिद्धांतों के महत्व को स्पष्ट करते हुए, डॉ. अंबेडकर ने संविधान सभा में 19 नवंबर 1948 को दिए गए भाषण में कहा था:[180]

> यह इस सभा की मंशा है कि भविष्य में विधायिका और कार्यपालिका दोनों इस खंड में उल्लेखित इन सिद्धांतों पर मात्र लफ्फाज़ी न करें, बल्कि इन्हें आज के बाद देश के शासन के मामलों में समस्त कार्यकारी व विधायी कार्रवाइयों का आधार बनाया जाना चाहिए।

ये सभी अंतरराष्ट्रीय अनुबंध और घोषणाएं, और हमारा अपना संविधान, स्पष्ट करते हैं कि सभी श्रमिकों को एक अच्छी नौकरी का अधिकार है जो उन्हें और उनके परिवारों के लिए सम्मानजनक जीवन सुनिश्चित करे। इसका मतलब यह हुआ कि उन सारे कामगारों को 'अल्प-रोज़गारशुदा', यानी अर्ध-बेरोज़गार माना जाना चाहिए और बेरोज़गारों में शामिल किया जाना चाहिए, जो निर्वाह-स्तर का वेतन भी नहीं कमा पा रहे हैं।

देश में अर्ध-बेरोज़गारी का स्तर क्या है? इसका अंदाज़ा लगाने का एक तरीका यह है कि गणना की जाए कि देश में कितने कामगार निर्वाह-स्तर से कम कमाते हैं।

इस तरह की एक गणना श्रम ब्यूरो द्वारा सितंबर 2016 में जारी पांचवे वार्षिक रोज़गार–बेरोज़गार सर्वेक्षण पर आधारित एक अध्ययन से की जा सकती है (तालिका 15)। इस अध्ययन ने पाया कि देश के कुल कार्यबल में से:

- 43.4% लोग प्रति माह 5,000 रुपए से कम कमाते थे; और
- 84.1% लोग प्रति माह 10,000 रुपए से कम कमाते थे।[181]

तालिका 15: रोज़गार के प्रकार और मासिक आमदनी, 2015–16

	स्व-रोज़गार	*मज़दूरी/वेतन पाने वाले*	*ठेका कामगार*	*प्रासंगिक मज़दूर*	*कुल*
कार्यबल का %	46.6%	17.0%	3.7%	32.8%	100%
मासिक कमाई					***कुल रोज़गार का प्रतिशत***
5,000 रुपए से कम	41.3%	18.7%	38.5%	59.3%	43.4%
10,000 रुपए से कम	84.9%	57.2%	86.7%	96.3%	84.1%

ये आंकड़े स्तब्ध करने वाले हैं।

ऊपर दिए गए तर्क और तालिका 15 के आंकड़ों से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि

वे सारे लोग जो 5,000 रुपए मासिक से कम कमाते हैं, जो कामगारों का 43% हैं, को अर्ध-बेरोज़गार माना जाना चाहिए और बेरोज़गारों में शामिल किया जाना चाहिए।

हमने अध्याय I, खंड 2 में भारत में बेरोज़गारी दर के बारे में एक प्रारंभिक अनुमान लगाया है — वहां हमने बेरोज़गारी दर 22.5% होने की गणना की है। अब यदि इस आंकड़े में अर्ध-बेरोज़गार कामगारों के आंकड़े (43%) को जोड़ दिया जाए, तो देश में अर्ध-बेरोज़गारी + बेरोज़गारी = वास्तविक बेरोज़गारी दर 65% तक बढ़ जाती है।

यह महामारी की चपेट में आने से पहले की स्थिति थी। महामारी से निपटने में सरकार की अक्षमता के कारण, अर्थव्यवस्था पूरी तरह से डूब गई है। इसने देश में बेरोज़गारी की दर को आसमान पर पहुंचा दिया होगा।

6. गहरे संकट में भारतीय अर्थव्यवस्था

वैश्वीकरण का निहित तर्क है कि अंतरराष्ट्रीय कर्ज़दाताओं के फरमानों पर कोई अल्पविकसित देश जितना अधिक नवउदारवादी नीतियों को लागू करेगा, वह उतना ही अधिक बाहरी कर्ज़ में डूबता जाएगा — क्योंकि जितना अधिक कर्ज़ व प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अंदर आएगा, उतना ही अधिक कर्ज़ अदायगी और मुनाफे का बहिर्प्रवाह होगा। भारत में भी ठीक यही हो रहा है।

मोदी सरकार नवउदारवादी नीतियों को जितनी रफ्तार देती है, बाहरी कर्ज़ उतना ही बढ़ता है: मार्च 2014 के अंत में ही यह 446.2 अरब डॉलर के उच्च स्तर पर था, और फिर बढ़ते-बढ़ते जून 2019 के अंत में 557.4 अरब डॉलर हो गया।[182] भारत आज दुनिया के सबसे अधिक कर्ज़दार देशों में शुमार है।

हमारे वित्त मंत्रालय के अधिकारी और मुख्यधारा के अर्थशास्त्री कह रहे हैं कि चिंता करने की कोई बात नहीं है। उनका दावा है कि हमारे विशाल विदेशी मुद्रा भंडार के कारण हमारे देश की बाह्य खाते की स्थिति 1991 की तुलना में काफी बेहतर है।

लेकिन किसी देश का विदेशी मुद्रा भंडार उसकी विदेशी मुद्रा आय का प्रतिनिधित्व नहीं करता। विदेशी मुद्रा भंडार में वे सभी विदेशी पूंजी अंतर्प्रवाह शामिल हैं जो देश के भीतर आए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि विदेशी निवेशक देश से अपना पैसा निकालना शुरू करते हैं, तो विदेशी मुद्रा भंडार गिरने लगेगा।

देश में आया सारा विदेशी निवेश अल्प-अवधि में बाहर नहीं जा सकता। लिहाज़ा, देश के विदेशी मुद्रा भंडार द्वारा प्रदान किए गए वास्तविक सुरक्षा कवच का अंदाज़ा लगाने के लिए, उसकी तुलना विदेशी पूंजी अंतर्प्रवाह की उस मात्रा से की जानी चाहिए जो तेज़ी से देश छोड़कर जा सकता है — इसे 'अल्प सूचना' या 'जोखिमपूर्ण' विदेशी मुद्रा देनदारियां (potentially volatile foreign exchange liabilities) भी कहते हैं। इसमें शामिल हैं: (i) लघु अवधि ऋण (यानी, वह ऋण जिसे एक वर्ष के भीतर चुकाना है); (ii) पोर्टफोलियो

निवेश (अर्थात, शेयर बाजारों और ऋण उपकरणों में विदेशी संस्थागत निवेशकों का निवेश), जिसे किसी भी समय बाहर ले जाया जा सकता है; और (iii) अनिवासी भारतीयों की विदेशी मुद्रा में जमा वह धनराशि जिसे वे कभी भी वापस ले जा सकते हैं [विदेशी मुद्रा अनिवासी बैंक (एफसीएनआर (बी)) खाता, और अनिवासी बाह्य (एनआरई) रुपया खाता]।

जून 2019 के अंत में भारत की जोखिमपूर्ण बाहरी देनदारियां इस प्रकार थीं:[183]

- अवशिष्ट परिपक्वता के अनुसार अल्पकालिक विदेशी ऋण (Short term debt by residual maturity) = 240.6 अरब डॉलर
- विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा पोर्टपोलियो निवेश = 267.1 अरब डॉलर
- बकाया एफसीएनआर (बी) और एनआरईआरए जमा (उसे छोड़कर जो लघु अवधि के कर्ज़ के आंकड़ों में शामिल है) = 36.7 अरब डॉलर

उपरोक्त को जोड़ने पर, जून 2019 के अंत तक हमारी कुल जोखिमपूर्ण बाहरी देनदारियां 544.4 अरब डॉलर थीं।

इसकी तुलना में, 30 जून 2019 को हमारा विदेशी मुद्रा भंडार 429.6 अरब डॉलर था — हमारी कुल जोखिमपूर्ण बाहरी देनदारियों से 21% कम।

इसका मतलब है कि यदि बाहरी निवेशकर्ता भारत से अपना पैसा निकालना चाहें — जो वे कंप्यूटर पर एक क्लिक से कर सकते हैं — तो हमारा विदेशी मुद्रा भंडार अर्थव्यवस्था को एक बार फिर विदेशी मुद्रा के दिवालियेपन में डूबने से बचाने के लिहाज़ से अपर्याप्त है, जैसा कि 1990–91 में हो चुका है। अर्थात हमारे देश के नेताओं और सरकार से जुड़े बुद्धिजीवियों का यह दावा एकदम खोखला है कि भारत 'आर्थिक महाशक्ति' बनने की ओर अग्रसर है। हमारा देश विदेशी कर्ज़ के गंभीर संकट में फंसा हुआ है। भारतीय अर्थव्यवस्था दिवालियेपन से बचने के लिए पूरी तरह विदेशी पूंजी के आगमन पर निर्भर हो गई है, जिसमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और सट्टेबाज़ी पूंजी दोनों का अंतर्प्रवाह शामिल है। यानी हमारी अर्थव्यवस्था पूरी तरह हमारे अंतरराष्ट्रीय लेनदारों — विदेशी निगमों और उनकी रखैल सरकारों — के चंगुल में है। वे भारत सरकार पर शर्तें थोप रहे हैं, ताकि वे धीरे-धीरे भारतीय अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण प्राप्त कर सकें। और मोदी सरकार दब्बू बनकर उनके फरमानों को स्वीकार करती जा रही है।

यही कारण है कि मोदी सरकार महामारी के दौरान भी नवउदारवादी आर्थिक सुधारों को तेज गति से लागू कर रही है। इसमें शामिल हैं — तीन कृषि कानून जो विदेशी कृषि व्यवसाय निगमों द्वारा भारतीय कृषि के अधिग्रहण के लिए अनुकूल स्थितियां पैदा करेंगे; देश के श्रम कानूनों में संशोधन ताकि विशालकाय निगम श्रमिकों का बेरहमी से शोषण कर अपने मुनाफे को अधिकतम कर सकें; कॉर्पोरेट परियोजनाओं को तेजी से मंजूरी देने के लिए हमारे पर्यावरण नियमों को कमज़ोर करना, भले ही इसका पर्यावरण और लोगों पर विनाशकारी प्रभाव हो; और देश की सार्वजनिक क्षेत्र की सर्वोत्तम और सबसे लाभदायक

कंपनियों और वित्तीय संस्थानों के निजीकरण का त्वरित कार्यक्रम।

देश को विदेशी और देशी कॉर्पोरेशंस को बेचा जा रहा है। राष्ट्रवाद का सारा हल्ला-गुल्ला मात्र गोएबल्सनुमा प्रचार है जो सरकार के वास्तविक इरादों से ध्यान भटकाने के लिए किया जा रहा है। यह फासीवादियों को एक ऐसा माहौल बनाने में भी मदद करता है जिसमें वे सारे आलोचकों और विरोधियों को राष्ट्र-विरोधी घोषित कर सकते हैं और उन पर हमलें, कठोर सज़ाएं, यहां तक कि उनकी हत्याएं भी कर सकते हैं।

जैसे-जैसे देश का विदेशी कर्ज़ का संकट गहराएगा, मोदी सरकार नवउदारवाद को और तीव्र करेगी। कृषि संकट और तीक्ष्ण होगा; निजीकरण और तेज़ होगा; और अर्थव्यवस्था का कॉर्पोरेटीकरण और तेज़ गति से किया जाएगा। लेकिन इस सबका मतलब यह भी है कि देश पर छाया बेरोज़गारी का संकट और भी विकराल होने वाला है।

'हिंदुत्व' राष्ट्रवाद की एक और भारी खुराक, और अल्पसंख्यकों पर क्रूर हमलों की एक और लहर, के लिए तैयार रहिए...

'भौंडी गैर-बराबरी'

तो ऐसा है वैश्वीकरण। यह एक पिछड़े और गरीब भारत को स्वीडन या जापान या ब्रिटेन जैसे विकसित देश में तबदील नहीं करेगा — उसकी तो कोई संभावना ही नहीं है। बल्कि इसने साम्राज्यवादी देशों के लिए परिस्थितियां तैयार कर दी हैं कि वे एक बार फिर हमारे देश की सम्पदा और लोगों को लूट सकें — एक बार फिर औपनिवेशिक युग की वापसी हो रही है!

अलबत्ता, रईसों को परवाह नहीं है। उन्होंने स्वयं को देश तथा उसके लोगों से अलग कर लिया है। उनकी दिलचस्पी सिर्फ अधिक से अधिक मुनाफा संचित करने में है, भले ही उसके लिए देश की संप्रभुता को गिरवी रखना पड़ रहा हो। नतीजतन, भारत आज अपने ज्ञात आर्थिक इतिहास की सबसे बदतर गैर-बराबरी का गवाह है।

चांसल और पिकेटी — दोनों प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं और पेरिस स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में विश्व असमानता लैब के सह-निदेशक हैं — ने गहन शोध करके भारत में 1922–2015 की अवधि में वयस्क टैक्स-पूर्व आमदनी के वितरण की सबसे प्रामाणिक गणना पेश की है। उन्होंने पाया कि 1951 से 1980 के बीच, यानी वैश्वीकरण से पूर्व की अवधि में, देश में आमदनी की गैर-बराबरी कम हुई थी; उसके बाद गैर-बराबरी तेजी से बढ़ी है। देश की आबादी के निम्नतम 50% का राष्ट्रीय आमदनी में हिस्सा 1951 से 1980 के बीच 20 से बढ़कर 23% हुआ था; उसके बाद यह घटने लगा और 2014–15 में 14.9% रह गया (देखें चार्ट 3)। इसके विपरीत, देश के सर्वोच्च 10% लोगों की आमदनी 1950 के दशक के शुरू में राष्ट्रीय आमदनी का करीब 36% थी जो 1980 के दशक के प्रारंभ तक घटकर 30% रह गई थी; इसके बाद यह लगातार बढ़ती गई और 2014–15 में 55% पर जा पहुंची। इस सर्वोच्च 10% के अंदर भी भारी गैर-बराबरी है, राष्ट्रीय आमदनी में सर्वोच्च

1% का हिस्सा 1980 के दशक की शुरुआत में 6% था जो 2014–15 तक बढ़कर 21.3% हो चुका था (देखें चार्ट 3)।

चार्ट 3: भारत में सर्वोच्च 1% और निम्नतम 50% का आमदनी में हिस्सा, 1951–2014[184]

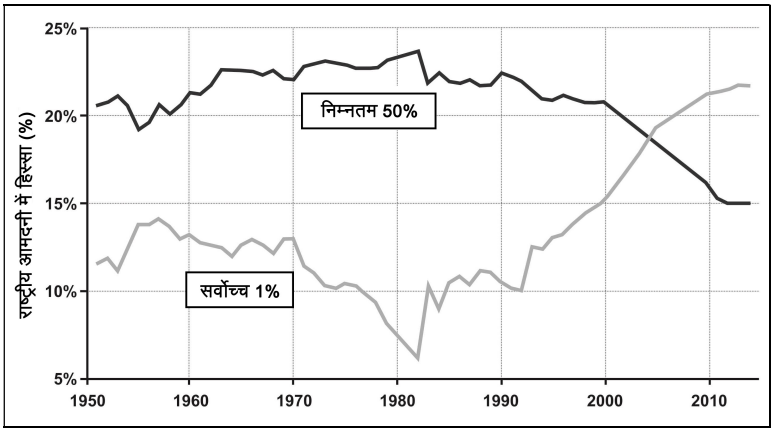

केंद्र में जब मोदी सरकार ने सत्ता संभाली, उस समय यह स्थिति थी। तब से गैर-बराबरी और बढ़ी है। ऑक्सफैम की एक रिपोर्ट के मुताबिक, देश में 2017 में पैदा हुई संपदा में से 73% सबसे अमीर 1% के हाथों में गई है जबकि देश की निर्धनतम आधी आबादी (67 करोड़) की संपदा में मात्र 1% की वृद्धि हुई।[185] नतीजा यह है कि क्रेडिट सुइस की नवीनतम रिपोर्ट (2019) में बताया गया है कि भारत के सर्वोच्च 10% अमीरों ने देश की 74.3% संपदा हथिया ली है जबकि निम्नतम 50% लोगों के हाथ में इसका मात्र 2.1% है।[186]

जैसे कि हमने उपर चर्चा की है, मोदी काल में भारत में अरबपतियों की संख्या सिर्फ 5 वर्षों में लगभग दुगनी हो चुकी है। तो दूसरी तरफ, मोदीनॉमिक्स ने देश में गरीबी को भी बदतर कर दिया है। मोदी सरकार ने लोगों की आर्थिक स्थिति पर आंकड़े जारी करना बंद कर दिया है; लेकिन *बिजनेस स्टैंडर्ड* ने 2018 की NSO की उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षण के आंकड़ों की रिपोर्ट की एक लीक हुई प्रति प्रकाशित की है। इस दबाई गई रिपोर्ट में बताया गया है कि एक भारतीय द्वारा एक माह में खर्च की औसत राशि (मुद्रा स्फीती का समायोजन करने के बाद) 2011–12 से 2017–18 की अवधि में 3.7% कम हुई है। मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च 2011–12 में 1,501 रुपए था और 2017–18 में गिरकर 1,446 रुपए रह गया था। चार दशकों में यह पहली बार है कि देश में उपभोक्ता खर्च में कमी आई है। सबसे चौंकाने वाली खबर यह है कि कई दशकों में पहली बार भोजन खपत में गिरावट हुई है। ग्रामीण भारतीयों का भोजन पर मासिक खर्च 2011–12 में 643 रुपए था और 2017–18 में घटकर 580 रुपए रह गया था (दोनों आंकड़े वास्तविक मूल्यों पर हैं)।[187]

सरकार द्वारा जारी पीएलएफएस के आंकड़े भी यही साबित करते हैं कि मोदी राज में गरीबी बढ़ी है। सरकार गरीबी के बारे में 1973 से आंकड़े जारी कर रही है; पिछले 50 सालों में यह पहली बार हुआ है कि देश में गरीबी बढ़ी है। 2011–12 व 2019–20 के 8 सालों में देश में गरीबों की संख्या 7.6 करोड़ से बढ़ी है।[188]

महामारी और गैर-बराबरी

यह भौंडी गैर-बराबरी महामारी के दौरान और बदतर हुई। यूबीएस तथा पीडब्लूसी (UBS तथा PwC) द्वारा प्रकाशित *बिलियोनेयर्स इनसाइट्स रिपोर्ट 2020* के मुताबिक अप्रैल से जुलाई के बीच भारतीय अरबपतियों की निवल संपत्ति (नेट वर्थ) 35% बढ़कर 423 अरब डॉलर हो गई।[189] आईआईएफएल वेल्थ हुरुन इंडिया रिच लिस्ट 2020 के मुताबिक मार्च में लॉकडाउन शुरू होने के बाद से (मार्च से अगस्त 2020 तक के 6 महीनों में) भारत के सबसे अमीर व्यक्ति मुकेश अंबानी की संपत्ति में हर घंटे 90 करोड़ का इजाफा हुआ है![190] यह सब तब हुआ जिस समय देश की अर्थव्यवस्था लगभग 50% सिकुड़ी थी, और अनौपचारिक क्षेत्र के करोड़ों कामगार बेरोज़गार हो गए थे और सरकार की संवेदनहीनता के चलते भुखमरी की कगार पर धकेल दिए गए थे। अज़ीम प्रेमजी विद्यापीठ द्वारा जारी एक हालिया रिपोर्ट बताती है कि कोरोना महामारी के पहले आठ महीनों में (मार्च से अक्टूबर 2020) देश में गरीबों की संख्या में 23 करोड़ की वृद्धि हुई! यह स्तंभित करने वाला आंकड़ा है।[191]

7. नौकरियां निर्मित करने के कुछ सुझाव

पिछले अध्यायों में प्रस्तुत विस्तृत तर्कों के आधार पर हम दो बातें कहने की कोशिश कर रहे हैं।

एक, अगर आप बेरोज़गार हैं, तो इसलिए नहीं कि हमारे देश की आबादी बहुत अधिक है। यदि आपके पास ढंग की, अच्छे वेतन वाली, औपचारिक नौकरी नहीं है, तो इसका कारण यह नहीं है कि आप समर्थ नहीं हैं, या पर्याप्त शिक्षित नहीं हैं, या इसलिए कि आपके माता-पिता इतने गरीब थे कि वे आपको अच्छी शिक्षा नहीं दिला पाए। कारण तो यह है कि ठीक-ठाक, औपचारिक क्षेत्र की नौकरियां हैं ही नहीं। और अच्छी नौकरियों की इतनी कमी, देश में इतनी अधिक बेरोज़गारी का कारण है पूंजीवाद और पूंजीवादी वैश्वीकरण — बेरोज़गारी और गैर बराबरी पूंजीवाद का अंतर्निहित तर्क है।

दूसरी बात पहली में से ही निकलती है। यदि बेरोज़गारी के संकट का कारण पूंजीवादी वैश्वीकरण का आर्थिक तर्क है, तो इसका मतलब यह हुआ कि हम बेरोज़गार किसी 'दूसरे' की वजह से नहीं हैं, हम इसलिए बेरोज़गार नहीं हैं कि अल्पसंख्यकों या दलितों या महिलाओं या हमारे राज्य के बाहर के लोगों (या विदेशी आप्रवासियों — जो आजकल

भाजपा का नया शगूफा है) ने 'हमारी' नौकरियां हथिया ली हैं बल्कि इसलिए हैं क्योंकि यह व्यवस्था नौकरियां पैदा करने के लिए बनी ही नहीं है। एक बार हम यह बात अच्छी तरह से समझ लेते हैं, तो हम यह भी समझ जाएंगे कि 'दूसरे' से लड़ने के बजाय, हमें 'दूसरे' के साथ एकजुट होने की और मिलकर ऐसी मांगें उठाने की जरूरत है जो आर्थिक व्यवस्था के तर्क को चुनौती देंगी और सचमुच सबके लिए अच्छी नौकरियां सृजित करेंगी।

यहां हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं कि हमें किस तरह की मांगें उठानी चाहिए, जिनसे वास्तव में रोज़गार सृजन होगा।

इनमें से कई मांगों की पूर्ति के लिए सरकारी निवेश में वृद्धि की आवश्यकता होगी। यह पैसा कहां से आएगा (क्योंकि सरकार दावा कर रही है कि वह आर्थिक रूप से विवश है)? हम इस मुद्दे पर इस अध्याय के अंत में चर्चा करेंगे।

1. गरीबों के लिए रोज़गार गारंटी योजना

बेरोज़गारी के संकट की विकरालता के मद्देनज़र, सरकार को ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में गरीबों के लिए एक रोज़गार गारंटी योजना लागू करने के लिए तत्काल कदम उठाने चाहिए। यह कदम अविलंब उठाना चाहिए, क्योंकि आगे सुझाए गए अन्य उपायों को क्रियांवित करने में समय लगेगा।

ग्रामीण गरीबों के लिए तो योजना पहले से मौजूद है — महात्मा गांधी ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना (MGNREGA); समस्या उसके क्रियांवयन में है। सरकार को चाहिए कि वह इस योजना को गंभीरता और ईमानदारी से क्रियांवित करे, खास तौर से इसके लिए ज़रूरी वित्त का आवंटन करके। यदि ग्रामीण इलाकों में यह योजना वास्तव में प्रत्येक जॉब-कार्ड धारक को 200 रुपए प्रतिदिन की दर से 100 दिनों का रोज़गार प्रतिवर्ष उपलब्ध कराए, तो इसकी कुल वार्षिक लागत 2.5 लाख करोड़ रुपए आएगी। इस योजना के लिए 2020–21 का बजट आवंटन मात्र 61,500 करोड़ रुपए है। (लॉकडाउन के दौरान वित्त मंत्री ने घोषणा की कि इसे बढ़ाकर 1 लाख करोड़ रुपए किया जा रहा है।)

इसके अलावा, सरकार को शहरी गरीबों के लिए भी इसी तरह की एक रोज़गार गारंटी योजना लागू करने की ज़रूरत है। यह खास तौर से छोटे शहरों में ज़रूरी है जहां रोज़गार का संकट भयावह है। देश के जाने-माने अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक ने ऐसी रोज़गार गारंटी योजना के लिए आवश्यक आवंटन की गणना प्रस्तुत की है। यदि सरकार 3.75 करोड़ शहरी परिवारों (जो 10 लाख से कम आबादी वाले कस्बों में रहते हैं) के लिए प्रति परिवार प्रतिवर्ष 100 दिन का रोज़गार मुहैया कराने के लिए योजना क्रियांवित करती है, तो कुल वार्षिक लागत 3.2 लाख करोड़ रुपए आएगी।[192] इसमें मज़दूरी और सामग्री दोनों की लागत 50:50 के अनुपात में शामिल है, और मज़दूरी की दर कुशलता के अलग-अलग स्तरों के आधार पर अलग-अलग होगी — सबसे निचले 30% के लिए 300 रुपए दैनिक, उससे ऊपर के 30% के लिए 500 रुपए दैनिक और उससे ऊपर के 20% के लिए 700

रुपए दैनिक (ऐसा माना गया है कि सर्वोच्च 20% ऐसा रोज़गार नहीं लेंगे)।

ग्रामीण व शहरी, दोनों योजनाओं की कुल लागत 5.7 लाख करोड़ रुपए आती है। मनरेगा के लिए पहले से आवंटित 1 लाख करोड़ रुपए को छोड़कर, इन प्रस्तावों को लागू करने के लिए आवश्यक अतिरिक्त सरकारी निवेश 4.7 लाख करोड़ रुपए आता है।

2. कृषि व्यय में वृद्धि

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के कारण भारतीय कृषि संकट में है। कृषि में वास्तविक रोज़गार की संख्या घट रही है। रोज़गार सृजन घटते-घटते ऋणात्मक हो गया है। इस महत्वपूर्ण क्षेत्र को पुनर्जीवित करने और रोज़गार सृजन को बढ़ावा देने के लिए सरकार को निम्नलिखित उपायों से कृषि को लाभदायक बनाना होगा:

- उर्वरकों, बिजली, पानी, वगैरह पर सब्सिडी बढ़ाकर खेती की उत्पादन लागत को कम करना;
- सरकारी फसल खरीद में वृद्धि करने, और किसानों को उनकी उपज के लिए लाभदायक मूल्य की गारंटी देने, जैसे उपायों द्वारा उपज को कीमत का समर्थन देना;
- सिंचाई, मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने, कृषि अनुसंधान, कृषि विस्तार सेवाओं, और फसल बीमा जैसे क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश बढ़ाना;
- भारतीय कृषकों को कर्ज़ के संकट से मुक्ति दिलाने के लिए निजी साहूकारों के कर्ज़ समेत उनके सारे कर्ज़ माफ करना, और यह सुनिश्चित करना कि उन्हें संस्थागत ऋण रियायती दरों पर मिल सकें।

इसके लिए सरकार को कृषि से संबंधित सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश बढ़ाना होगा। मोदी सरकार ने 2020–21 के बजट में कृषि से सबसे करीबी से सम्बंधित मंत्रालयों का आवंटन मात्र 1.47 लाख करोड़ रुपए रखा है (देखें तालिका 9)। खाद्य सब्सिडी और उर्वरक सब्सिडी जैसे सम्बंधित मदों को जोड़कर यह राशि 3.34 लाख करोड़ रुपए हो जाती है। यदि सरकार कृषि को पुनर्जीवन देने के प्रति गंभीर है, तो उसे कृषि व सम्बंधित क्षेत्रों में इस निवेश को दुगना कर देना चाहिए।

इससे कृषि में घटते रोज़गार का रुझान भी पलट जाएगा। हमने ऊपर गणना की है कि यदि वैश्वीकरण के बाद के वर्षों के दौरान रोज़गार सृजन 1980 के दशक की दर से जारी रहता तो 2017–18 तक कृषि रोज़गार में 14 करोड़ की वृद्धि हुई होती!

3. संगठित कारखाना क्षेत्र में ज़्यादा नौकरियां पैदा करें

वैश्वीकरण ने कारखाना क्षेत्र में नौकरी सृजन को बहुत धीमा कर दिया है। संगठित कारखाना क्षेत्र में कुल नौकरियां मात्र 1.56 करोड़ हैं — दूसरे शब्दों में, यह क्षेत्र देश के

कुल कार्य बल में से मात्र 3.3% को नौकरी देता है। इनमें से 77% कामगार बड़े कारखानों (यानी जिनमें 100 या उससे अधिक मज़दूर होते हैं) में लगे हैं।[193]

बड़ी कंपनियां प्रति इकाई निवेशित पूंजी अपेक्षाकृत कम कामगार नियुक्त करती हैं, क्योंकि उनमें मशीनीकरण का स्तर अधिक होता है। हाल के वर्षों में, सरकार द्वारा श्रम कानूनों को कमज़ोर करने का फायदा उठाते हुए, कंपनियां स्थायी कामगारों की छंटनी करके उनकी जगह ठेका मज़दूरों को नियुक्त कर रही हैं। यह *उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries)* में दिए गए आंकड़ों में देखा जा सकता है। इनके अनुसार पिछले दो दशकों में कारखानों में कुल कामगारों में से ठेका कामगारों का हिस्सा दुगने से भी ज़्यादा हो गया है। यह 2000–01 में 15.7% था और 2017–18 में बढ़कर 36% हो चुका था।[194] एक ओर तो स्थायी कामगारों की तुलना में इन ठेका कामगारों से ज़्यादा घंटे काम लिया जाता है, वहीं इन्हें कम वेतन दिया जाता है और इन्हें कोई सामाजिक सुरक्षा भी नहीं मिलती।

चार्ट 4: भारतीय उद्योग में उत्पादकता और मज़दूरी, 1982–83 से 2012–13[195]
(1982–83 = 100)

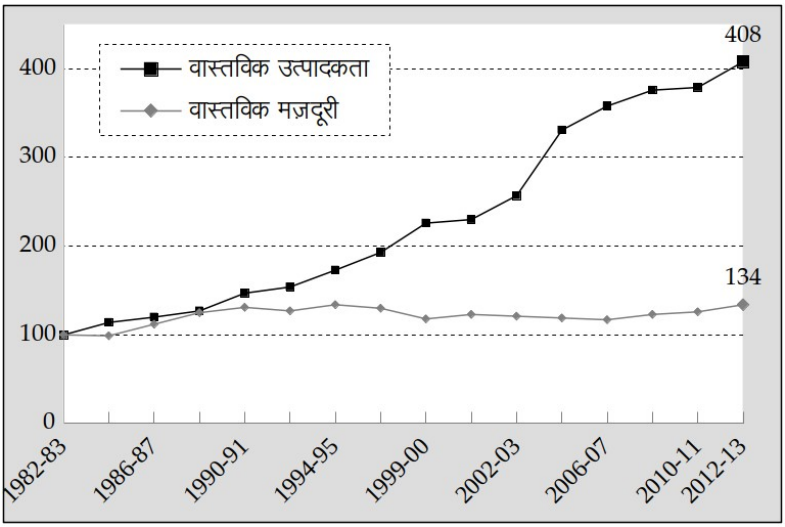

अर्थात, बढ़ते मशीनीकरण के कारण उत्पादकता में वृद्धि से कामगारों को कोई फायदा नहीं मिला है। *उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण* के आंकड़ों से पता चलता है कि 1983–2013 की अवधि में कामगारों की वास्तविक उत्पादकता 7% सालाना की औसत दर से बढ़ी, लेकिन कामगारों के वास्तविक वेतन कमोबेश स्थिर रहे, उनमें मात्र 1% सालाना की औसत वृद्धि हुई (देखें चार्ट 4)।

इसका अर्थ है कि इन कंपनियों के मालिकों ने उत्पादकता में हुई इस वृद्धि से मिलने

वाली सारी लब्धियों को अपनी जेब में रख लिया है; परिणामस्वरूप उनके मुनाफे में भरपूर वृद्धि हुई है। यह बात चार्ट 5 में साफ देखी जा सकती है, जो बताता है कि:

- उद्योगों में कुल नेट मूल्य परिवर्धन के प्रतिशत के रूप में वेतन 1982–83 में 30.9% से घटकर 1990–91 में 25.6% और 2016–17 में 15.1% रह गया।
- कुल नेट मूल्य परिवर्धन के प्रतिशत के रूप में मुनाफा वैश्वीकरण के बाद के काल में दुगने से भी ज़्यादा हो गया; यह 1982–83 में 19.9% था और बढ़कर 1990–91 में 22.1% तथा 2016–17 में 47.1% हो गया।

बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा कमाए जा रहे ऐसे भारी-भरकम मुनाफे को देखते हुए, अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त नौकरियां पैदा करने का एक महत्वपूर्ण तरीका यह है कि कारखानों (कम से कम बड़े कारखाने, जिनमें 100 से अधिक कामगार नियुक्त हैं) में प्रतिदिन काम के घंटे 8 से घटाकर 4 कर दिए जाएं (वेतन घटाए बगैर)। इससे उनमें कामगारों की संख्या दुगनी हो जाएगी।

चार्ट 5: भारतीय उद्योग में नेट मूल्य परिवर्धन के % के रूप में मुनाफा और वेतन, 1982–83 से 2016–17[196]

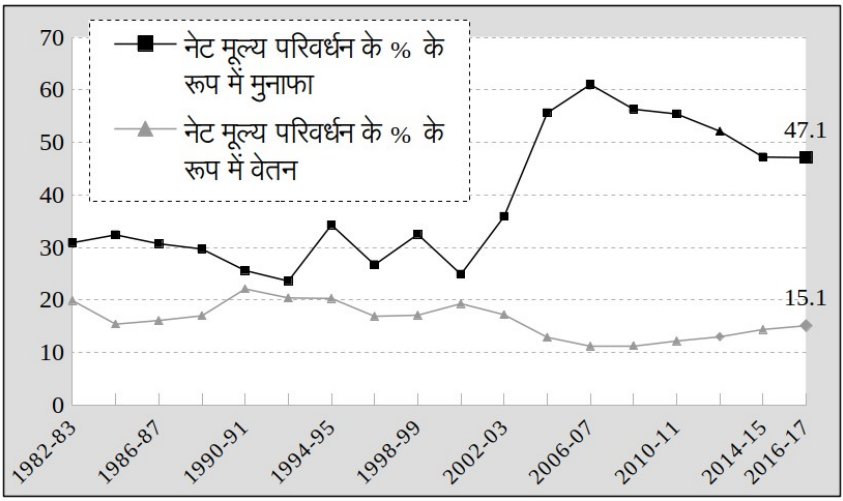

रूढ़िवादी अर्थशास्त्री हमारे इस प्रस्ताव की खिल्ली उड़ाएंगे और दावा करेंगे कि इससे उद्योगों को भारी नुकसान होगा, और वे बंद भी पड़ सकते हैं। लेकिन जैसा कि चार्ट 5 में देखा जा सकता है, 2016–17 में उद्योगों में मूल्य परिवर्धन के प्रतिशत के रूप में वेतन मात्र 15% था, वहीं मुनाफा 47% था। लिहाज़ा, यदि बड़े पैमाने के उद्योगों में वेतन की लागत दुगनी हो जाए, तो भी वे नुकसान में नहीं आ जाएंगे, वे फिर भी काफी मुनाफा कमा रहे होंगे — उनका मुनाफा इसके बाद भी मूल्य परिवर्धन का 17% रहेगा (जो उनके

1980 के दशक के मुनाफे से ज़्यादा ही होगा)। इसके अलावा, जब रोज़गार बढ़ेगा तो मांग भी बढ़ेगी। इसके चलते बड़े उद्योग, जो आज अपनी पूरी क्षमता से काफी कम पर काम कर रहे हैं (भारतीय उद्योग में आज क्षमता का उपयोग करीब 72% है[197]), अपना उत्पादन बढ़ा पाएंगे और क्षमता का बेहतर उपयोग कर पाएंगे, जिससे उनका मुनाफा और बढ़ जाएगा।

चार घंटे प्रतिदिन कार्यदिवस के कारण बड़े उद्यम ठप नहीं होंगे, बल्कि यह उनके लिए लाभप्रद होगा, इसके लिए ऊपर जो व्याख्या दी गई है उसके बावजूद कई पाठकों को हमारा प्रस्ताव बेतुका लगेगा। इस प्रतिक्रिया का कारण यह है कि हम आठ घंटे के कार्यदिवस के आदी हो गए हैं, यह इतना सर्वव्यापी जो हो गया है। लेकिन हम भूल जाते हैं कि एक सदी पहले तक 10 या 12 घंटे का कार्यदिवस ही सामान्य बात थी। उस समय जब मज़दूरों ने आठ घंटे के कार्यदिवस की मांग उठाई तो कई लोगों को लगा था कि यदि इसे मान लिया गया तो यह कारोबार के ताबूत में आखिरी कील होगी। अंततः मज़दूरों ने अपनी मांग जीती; इतिहास हमें बताता है कि इसने पूंजीवाद के विस्तार में मदद ही की।

जिन लोगों को हमारा प्रस्ताव उटपटांग लगता है, उनके लिए कुछ और तथ्य पेश हैं। यूरोप में वास्तव में आठ घंटे से कम के कार्यदिवस पर चर्चा चल रही है। स्वीडन की कुछ स्थानीय परिषदें प्रतिदिन 6 घंटे के कार्यदिवस को आज़मा भी रही हैं, और शुरुआती नतीजे बताते हैं कि इसके परिणाम वास्तव में अर्थव्यवस्था के लिए अच्छे रहे हैं, क्योंकि कामगारों की उत्पादकता बढ़ी है जिसने कारोबार की बढ़ी हुई लागत की भरपाई कर दी है। फिनलैंड में नव नियुक्त प्रधानमंत्री सना मरीन ने आव्हान किया है कि या तो कार्यदिवसों की संख्या घटाकर सप्ताह में चार दिन कर दी जाए या प्रतिदिन काम के घंटे 8 से घटाकर 6 कर दिए जाएं। 2019 में माइक्रोसॉफ्ट ने जापान में सप्ताह में चार दिन काम का प्रयोग किया था, जिसके तहत कर्मचारियों को लगातार पांच शुक्रवार छुट्टी दी गई थी। कंपनी ने अपनी वेबसाइट पर सूचित किया है कि छोटे कार्य-सप्ताह से उत्पादकता में बहुत वृद्धि हुई।[198]

इस सबसे यह साबित हो जाता है कि चार घंटे का कार्यदिवस करने-योग्य है। 2017–18 में 100 से ज्यादा कर्मचारी नियुक्त करने वाले बड़े उद्योगों में लगभग 1.2 करोड़ कर्मचारी थे। अर्थात बड़े उद्योगों में रोज़गार दुगना करने से 1.2 करोड़ अतिरिक्त नौकरियां पैदा होंगी, और गुणक प्रभाव से अन्य क्षेत्रों में और भी रोज़गार पैदा होंगे।

4. लघु क्षेत्र को प्रोत्साहन

मैन्यूफेक्चरिंग व सेवा दोनों क्षेत्रों में अधिकांश नौकरियां अनौपचारिक नौकरियां हैं। इनमें से अधिकतर नौकरियां तथाकथित सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्यमों (एमएसएमई) में हैं। इनमें से 99% तो सूक्ष्म उद्यम हैं (अर्थात जिनमें पूंजी निवेश 25 लाख रुपए से कम है यदि वे मैन्यूफेक्चरिंग में लगे हुए हैं, और सेवा क्षेत्र में होने पर 10 लाख रुपए से कम है)।

नवउदारवादी आर्थिक सुधार छोटे उद्योगों की कीमत पर बड़े पैमाने के उद्योगों को बढ़ावा देते हैं। लेकिन इन सुधारों की शुरुआत के तीन दशक बाद भी एमएसएमई क्षेत्र

बॉक्स 1: मुद्रा योजना का छलावा

पीएम मोदी ने 8 अप्रैल 2015 को प्रधानमंत्री मुद्रा योजना शुरू करने की घोषणा की। इसका घोषित मकसद छोटे उद्यमियों को आसान ऋण उपलब्ध करवाकर स्व-रोज़गार को बढ़ावा देना है। इस योजना के तहत, सूक्ष्म व छोटे उद्यम स्थापित करने के इच्छुक लोग 50,000 से 10 लाख रुपए तक के ऋण निम्न ब्याज दरों पर ले सकते हैं, और इसमें किसी गारंटर की आवश्यकता नहीं है। चार वर्ष बाद, 2019 के लोक सभा चुनाव के ऐन पहले, 29 मार्च 2019 के दिन *रिपब्लिक भारत टीवी* को दिए गए एक 'प्रीस्क्रिप्टेड' साक्षात्कार में (जिसमें कोई कड़े सवाल नहीं पूछे गए), मोदी ने दावा किया कि "17 करोड़ लोगों ने मुद्रा योजना के तहत ऋण लिया है। चार करोड़ ऐसे लोग हैं जिन्होंने पहली बार ऋण लिया है। उन्होंने कुछ ना कुछ रोज़गार तो शुरू किया ही होगा। उन्होंने कुछ अन्य लोगों को भी रोज़गार दिया होगा।" मोदी के कहने का आशय यह था कि योजना ने 4 से 8 करोड़ के बीच नौकरियां पैदा की होंगी।*

मोदी बेशर्मी से झूठ बोल रहे थे। यह बात मुद्रा योजना की आधिकारिक वेबसाइट** पर उपलब्ध आकंड़ों से प्रमाणित होती है। आंकड़े बताते हैं कि मार्च 2019 तक के चार वर्षों में कुल वितरित 18.26 करोड़ ऋणों में से 16.31 करोड़ (89%) शिशु ऋण थे (50,000 रुपए तक के ऋण)। इन शिशु ऋणों की कुल स्वीकृत राशि 3.96 लाख करोड़ रुपए थी और वितरित राशि 3.90 लाख करोड़ रुपए थी। स्वीकृत ऋणों का औसत आकार 24,280 रुपए निकलता है और औसत वितरित राशि 23,904 रुपए थी। यह राशि तो किसी भी किस्म का छोटा कारोबार स्थापित करने के लिए नाकाफी है। इतने छोटे ऋण कैसे करोड़ों नौकरियां पैदा कर सकते हैं?

** "PM Modi's Exclusive Interview to Republic Bharat", 29 March 2019, https://www.youtube.com.*

*** "Mudra", https://www.mudra.org.in.*

संगठित क्षेत्र के मुकाबले कई गुना ज़्यादा नौकरियां प्रदान करता है: 1.5 करोड़ के मुकाबले 11.1 करोड़। इनमें से 97% से अधिक रोज़गार सूक्ष्म उद्यमों में थे। एमएसएमई क्षेत्र में रोज़गार वृद्धि दर (2006–07 से 2015–16 की अवधि में सीएजीआर 3.63%) भी संगठित क्षेत्र के कारखानों के मुकाबले (सीएजीआर 3.34%) उच्चतर रही है।[199]

इसके बावजूद, मोदी सरकार ने भारत के लघु उद्यमों का गला घोंटने और अर्थव्यवस्था का कॉर्पोरेटीकरण करने की कोशिश की है, पहले नोटबंदी और जीएसटी के माध्यम से, और अब लॉकडाउन के दौरान इस क्षेत्र को कोई सार्थक राहत पैकेज देने से इनकार कर। लॉकडाउन का इस क्षेत्र पर भयानक असर हुआ है, हज़ारों इकाइयां बंद पड़ गई हैं, लाखों नौकरियां गायब हो गई हैं।

लेकिन फिर मुद्रा योजना के बारे में क्या कहेंगे जिसका घोषित उद्देश्य छोटे पैमाने की उद्यमिता को बढ़ावा देना और उसके आधार पर लघु पैमाने के क्षेत्र में रोज़गार पैदा करना है? जैसे कि बॉक्स 1 में बताया गया है, यह मोदी सरकार का एक और छलावा है, जिसका मकसद भोले-भाले 'भक्तों' को बेवकूफ बनाना है।

तो चर्चा के मौजूदा विषय पर लौटते हैं। यदि हमें बेरोज़गारी के संकट से निपटना है, तो हमें हमारे आर्थिक विकास के मॉडल में रोज़गार सृजन पर ध्यान केंद्रित करना होगा। देश में वर्तमान में जो नवउदारवादी मॉडल लागू किया जा रहा है उसका मुख्य सरोकार यह नहीं है। भारत में नवउदारवाद पर अमल के तीन दशक बाद, यह स्पष्ट है कि बड़े उद्योगों पर केंद्रित विकास का पश्चिमी मॉडल भारत जैसे अल्पविकसित देश में बड़ी संख्या में रोज़गार का सृजन नहीं कर सकता। इसके लिए हमें विकेंद्रित और छोटे पैमाने के उत्पादन पर ध्यान देना होगा, खास तौर से ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम-आधारित उद्योगों पर। इसके लिए ज़रूरी होगा कि सरकार इन उद्योगों के विकास के लिए वित्तीय प्रोत्साहन दे — इसके अंतर्गत उसे छोटी इकाइयां स्थापित करने को इच्छुक लोगों को कम ब्याज दरों पर आसान ऋण उपलब्ध करवाने होंगे। इसका मतलब यह भी है कि सरकार को इसके लिए अपना बजट आवंटन काफी बढ़ाना होगा — क्योंकि ब्याज में दी जाने वाली सब्सिडी बजट में से ही तो आएगी।

लेकिन इतना भर पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए यह भी ज़रूरी होगा कि सरकार देश का आर्थिक माहौल बदलने के लिए कदम उठाए और ऐसी परिस्थितियां पैदा करे जहां छोटे पैमाने के उद्योग फल-फूल सकें। उदाहरण के लिए, विशाल कोयला / गैस / पनबिजली / परमाणु आधारित बिजली उत्पादन संयंत्रों के स्थान पर हमें छोटे पनबिजली या नवीकरणीय ऊर्जा आधारित बिजली घरों पर ध्यान केंद्रित करना होगा। अन्य बातों के अलावा, इसके लिए यह भी ज़रूरी होगा कि सरकार कुछ चीज़ों का उत्पादन छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए आरक्षित कर दे और इन चीज़ों के आयात पर रोक लगाए — ताकि इस क्षेत्र को मंदी-पीड़ित पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मशीनीकृत संयंत्रों के सब्सिडी-युक्त उत्पादों के साथ अनुचित प्रतिस्पर्धा से बचाया जा सके।

5. ज़्यादा सरकारी नौकरियां पैदा करें

देश भर में लाखों नौजवान अपनी-अपनी जातियों के लिए आरक्षण की मांग कर रहे हैं — जबकि सरकारी नौकरियां हैं ही नहीं। ये सब सार्वजनिक रोज़गार के उस लड्डू में हिस्से के लिए लड़ रहे हैं जिस लड्डू का कोई वजूद ही नहीं है।

इसकी बजाय हम सबको, जाति और समुदाय की सीमाओं के परे, एक होकर ज़्यादा सरकारी नौकरियों की मांग करनी चाहिए। एक अंदाज़ा लगाते हैं कि भारत में कितनी सरकारी नौकरियां निर्मित करना संभव है। इसके लिए, आइए जनसंख्या के प्रतिशत के रूप में भारत में सरकारी नौकरियों की संख्या की तुलना विकसित देशों से करते हैं।

हमारे दरबारदार बुद्धिजीवियों द्वारा पीटे जा रहे ढिंढोरे के विपरीत भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार अधिक नहीं है; वास्तव में विकसित पूंजीवादी देशों की तुलना में यह बहुत कम है। कुल जनसंख्या के प्रतिशत के रूप में स्वीडन और नॉर्वे जैसे स्कैण्डिनेवियाई देशों में सार्वजनिक रोज़गार में लगे लोगों की संख्या भारत के मुकाबले 12 गुना ज़्यादा है, जबकि फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन जैसे अन्य विकसित देशों में यह 6 गुना अधिक है (तालिका 16)।

तालिका 16: सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार
(जनसंख्या के प्रतिशत के रूप में)[200]

स्वीडन	14.47
फ्रांस	8.81
यूके	7.77
यूएसए	7.17
भारत	1.20

विकसित देशों में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के मामले में यूएसए सबसे नीचे है। यदि हम मानें कि भारत को इस स्तर तक पहुंचना है, तो जनसंख्या के अनुपात में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार को यूएसए के स्तर पर लाने के लिए भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार को बढ़कर कम से कम 9.6 करोड़ होना चाहिए।[201] फिलहाल भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार करीब 1.7 करोड़ है।[202] इसका मतलब है कि भारत को सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार यूएसए के स्तर पर लाने के लिए 7.9 करोड़ अतिरिक्त नौकरियां पैदा करना पड़ेंगी!

हमारे पाठकों को यह सब अविश्वस्नीय लग रहा होगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम यह सुनते आए हैं कि भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था है जबकि विकसित पूंजीवादी देश मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्थाएं हैं; इसलिए लोग यह मान कर चलते हैं कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र यूएसए और यूरोप की तुलना में बड़ा है और अधिक रोज़गार दे रहा होगा।

विकसित देशों में सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार इतना अधिक होने और भारत में इतना कम होने का एक अहम कारण यह है कि सामाजिक क्षेत्रों पर उनके निवेशों में भारी अंतर है — युरोपीय संघ के देशों का सामाजिक क्षेत्रों पर औसत खर्च जीडीपी का 31% है जबकि भारत में यह जीडीपी का मात्र 6.7% है।[203] अधिकांश विकसित देशों में उनके नागरिकों के लिए एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा नेटवर्क है, जिसमें सबके लिए स्वास्थ्य कवरेज, मुफ्त स्कूली शिक्षा और मुफ्त या सस्ती विश्वविद्यालयीन शिक्षा, वृद्धावस्था पेंशन, मातृत्व लाभ, विकलांगता सहायता, पारिवारिक भत्ता (जैसे बच्चों की देखभाल के लिए भत्ता), अत्यंत गरीब लोगों के लिए भत्ता, वगैरह शामिल हैं। वहां की सरकारें लोगों को ये सामाजिक सेवाएं प्रदान करने के लिए काफी बड़ी राशियां खर्च करती हैं, जिसका मतलब यह भी होता है कि

उन्हें अपनी आबादी को ये सेवाएं प्रदान करने के लिए सामाजिक क्षेत्र में बड़ी संख्या में लोगों को नियुक्त करना पड़ता है (जैसे स्कूली शिक्षक या स्वास्थ्य पेशेवर)।

इसलिए, जाति, धर्म, क्षेत्र, वगैरह के आधार पर आपस में लड़ने की बजाय हमें एक होकर मांग करनी चाहिए कि सरकार अपने सामाजिक क्षेत्र के खर्च को जीडीपी के वर्तमान 7% से बढ़ाकर कम से कम 15% करे और सार्वजनिक क्षेत्र में ज़्यादा नौकरियों का सृजन करे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इससे कम से कम कुछ करोड़ नौकरियों का सृजन होगा। इससे निजी क्षेत्र में भी अधिक नहीं तो कम से इतनी ही और नौकरियां पैदा होंगी, क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में अच्छे वेतन वाली इतनी सारी नौकरियों के पैदा होने के चलते मांग में खूब वृद्धि होगी जिससे निजी क्षेत्र में उत्पादन भी खूब बढ़ेगा — जैसा कि कीन्स ने दशकों पहले स्पष्ट किया था।

अपने प्रस्ताव की व्यवहारिकता समझाने के लिए चलिए अंदाज़ लगाते हैं कि देश में स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के लिए सरकार को कितने अतिरिक्त शिक्षकों की नियुक्ति करनी होगी।

सभी बच्चों को अनिवार्य व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने के लिए अतिरिक्त शिक्षकों की नियुक्ति

भारत में शिक्षा की वर्तमान हालत

व्यक्ति व समाज दोनों के विकास के लिए शिक्षा बुनियादी महत्व की है। यही कारण है कि सारे विकसित देशों में सरकारों ने अपने सारे बच्चों को मुफ्त, समतामूलक तथा अच्छी गुणवत्ता की स्कूली शिक्षा प्रदान करने की ज़िम्मेदारी उठाई है (निजी क्षेत्र तो सिर्फ मुनाफे के लिए निवेश करता है)।

दुर्भाग्य से, भारत में, हमारी सरकार हमारे सभी बच्चों को शिक्षित करने के बारे में पूरी तरह से उदासीन है। 2011 की जनगणना, जो देश के बारे में जानकारी का सबसे विश्वसनीय स्रोत है, के आंकड़े दर्शाते हैं कि देश के 6–13 वर्ष आयु के कुल 20.8 करोड़ बच्चों में से 3.2 करोड़ यानी 15.4% ने कभी स्कूल का मुंह नहीं देखा![204] यह विशाल संख्या है।

सरकार की हमारे बच्चों के विकास के बारे में उदासीनता शिक्षा पर बहुत कम सरकारी खर्च में भी झलकती है। हमारी सरकार शिक्षा पर जीडीपी का मात्र 3.1% खर्च करती है, जो की विकसित देश ही नहीं, मध्य आय वाले देशों से भी बहुत कम है।[205]

नतीजतन, हमारे स्कूलों की हालत बहुत ख़राब है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार:

- देश की अधिकांश प्राथमिक शालाओं में तीन या तीन से कम शिक्षक हैं; और तीन या तीन से कम कमरे हैं;[206]
- इसका मतलब है कि देश की अधिकांश प्राथमिक शालाओं में एक शिक्षक, एक समय

पर, एक ही कमरे में दो या तीन अलग-अलग कक्षाएं पढ़ाता है!

- देश के उच्चतर स्कूलों में भी हालत इतनी ही बुरी है।[207]
- हमारे अधिकांश स्कूलों में बिजली और कंप्यूटर जैसी बुनियादी अधोरचना भी नहीं है।[208]

तालिका 17: विभिन्न देशों का शिक्षा पर सरकारी खर्च, *2018 (जीडीपी का %)*[209]

अर्जेंटीना	5.0	फ़िनलैंड	6.3	रशिया	4.7
बेल्जियम	6.4	फ्रांस	5.4	द. अफ्रिका	6.5
ब्राज़ील	6.1	मेक्सिको	4.3	यूके	5.2

हमारे स्कूलों की खस्ता हालत के कारण हमारे बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता इतनी खराब है कि कक्षा 5 के लगभग आधे बच्चे कक्षा 2 के स्तर का पाठ नहीं पढ़ पाते और लगभग तीन-चौथाई (72%) भाग का आसान-सा सवाल हल नहीं कर पाते।[210]

लिहाज़ा, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कक्षा 1 में दाखिला लेने वाले बच्चों में से लगभग आधे बच्चे माध्यमिक शिक्षा पूरी नहीं करते। विभिन्न स्तरों पर शाला-त्याग की दर निम्नानुसार है:[211]

- प्राथमिक स्तर (यानी कक्षा 5) पर शाला-त्याग की दर 15.5% है (इसका मतलब है कि कक्षा 1 में दाखिला लेने वाले 100 बच्चों में 15.5% कक्षा 5 तक की पढ़ाई पूरी नहीं करते);
- प्रारंभिक स्तर (यानी कक्षा 8) पर शाला-त्याग की दर 30% है;
- माध्यमिक स्तर (यानी कक्षा 10) पर शाला-त्याग की दर पूरी 47.3% है।

शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए ज़रूरी अतिरिक्त शिक्षक

आइये, गणना करते हैं कि सरकार को कितने अतिरिक्त शिक्षक नियुक्त करने होंगे यदि वह देश में शिक्षा की गुणवत्ता को बेहतर बनाने तथा उसे अंतरराष्ट्रीय स्तर तक लाने का निर्णय लेती है। सबसे पहले हम प्राथमिक और प्रारंभिक स्तर पर अतिरिक्त शिक्षकों की गणना करते हैं।

- सिर्फ-प्राथमिक स्कूलों में प्रति स्कूल औसतन 3.1 शिक्षक हैं (देखें तालिका 17), जबकि वहां कम से कम 5 होने चाहिए (दरअसल 5 शिक्षक प्रति स्कूल भी कम हैं, यह संख्या कम से कम 6 होनी चाहिए; लेकिन हम शुरुआती न्यूनतम स्तर हासिल करने के लिए 5 का आंकड़ा लेकर ही चलते हैं)। इसका मतलब हुआ कि सरकार को प्राथमिक स्कूलों में अतिरिक्त (1.9 x 8.4 =) 15.96 लाख शिक्षकों को नियुक्त करने

की ज़रूरत है। ऐसे में प्राथमिक स्कूलों में शिक्षकों की कुल संख्या (15.96 + 26.06 =) 42.02 लाख हो जाएगी।

- प्राथमिक स्तर पर शाला-त्याग की दर 15.5% है। यदि इन सारे बच्चों को वापिस स्कूल में लाया जाए, तो प्राथमिक स्कूलों में शिक्षकों की संख्या बढ़ाकर 49.4 लाख करनी होगी।[212]

तालिका 18: स्कूलों के लिए प्रारंभिक शिक्षा के आंकड़े, 2015[213] *(लाख में)*

	कुल स्कूल (1)	***सिर्फ-प्राथमिक स्कूल***		***सिर्फ-प्रारंभिक स्कूल***	
		कुल	*(1) के % के रूप में*	*कुल*	*(1) के % के रूप में*
स्कूलों की संख्या	15.17	8.4	55.4%	2.82	18.6%
शिक्षकों की संख्या	86.92	26.06	30%	20.38	23.4%

- सिर्फ-प्रारंभिक स्कूलों में प्रति स्कूल औसतन 7.2 शिक्षक हैं (देखें तालिका 18), जबकि कम से कम 9 होने चाहिए। इसका मतलब है कि सरकार को प्रारंभिक स्कूलों में अतिरिक्त (1.8 x 2.82 =) 5.08 लाख शिक्षकों को नियुक्त करने की ज़रूरत है; ऐसे में प्रारंभिक स्कूलों में शिक्षकों की संख्या बढ़कर (5.08 + 20.38 =) 25.46 हो जाएगी।
- प्रारंभिक स्तर के लिए शाला-त्याग की दर 30% है। यदि इन सारे बच्चों को वापिस स्कूल में लाया जाए, तो इन स्कूलों में शिक्षकों की संख्या बढ़ाकर 35.75 लाख करनी पड़ेगी।[214]
- उपरोक्त को जोड़कर, सिर्फ-प्राथमिक और सिर्फ-प्रारंभिक स्कूलों में शिक्षकों की कुल संख्या वर्तमान (26.06 + 20.38 =) 46.44 लाख से बढ़कर (49.4 + 35.75 =) 85.15 लाख हो जाएगी।
- अच्छी शिक्षा के लिए प्रति कक्षा एक शिक्षक होना पर्याप्त नहीं होता; छात्र–शिक्षक अनुपात भी कम होना चाहिए। जिन देशों को अच्छी स्कूली शिक्षा के लिए जाना जाता है, वहां प्रति शिक्षक 20 से ज़्यादा छात्र नहीं हैं। भारत में यह अनुपात कहीं ज़्यादा है, खास तौर से निजी स्कूलों में जहां यह अनुपात 40 या 60 या उससे भी अधिक हो सकता है। अगर इस अनुपात को 20 के करीब लाना है तो हमें शिक्षकों की संख्या कम से कम दोगुनी करनी होगी। हमारी गणना के लिए मान लेते हैं कि शुरू में सरकार छात्र–शिक्षक अनुपात को लगभग 30 तक लाने का लक्ष्य निर्धारित करती है, जिसके लिए उसे स्कूलों में शिक्षकों की संख्या में 25% की वृद्धि करनी होगी। इसका मतलब होगा कि प्राथमिक व प्रारंभिक स्कूल शिक्षकों की कुल संख्या 85.15 लाख से बढ़कर

106.44 लाख हो जाएगी।

- 6–13 वर्ष उम्र समूह के 3.2 करोड़ बच्चे कभी स्कूल नहीं गए। उन्हें स्कूल वापस लाना आसान नहीं होगा। सरकार को इसके लिए एक विशाल साक्षरता कार्यक्रम चलाना होगा, और उसके लिए सम्पूर्ण समाज का, विशेष रूप से शिक्षित युवाओं और जन संगठनों का, सहयोग लेना होगा। लिहाज़ा, फिलहाल हम यह मान कर चल रहे हैं कि यह जिम्मेदारी कॉलेज के युवा स्वेच्छा से निभाएंगे, और इसलिए सरकार को विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

सिर्फ-प्राथमिक व सिर्फ-प्रारंभिक स्कूलों में कुल शिक्षकों में से 53.4% कार्यरत हैं। शेष स्कूल माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्कूल हैं और उनमें 40.48 लाख शिक्षक हैं। माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक शिक्षा में शाला-त्याग की दर प्रारंभिक शिक्षा की अपेक्षा बहुत अधिक है और छात्र–शिक्षक अनुपात भी अधिक है। यदि यह मान लिया जाए कि पहले चरण में इस उच्चतर स्तर पर शिक्षकों की संख्या में वृद्धि प्राथमिक व प्रारंभिक स्कूलों में वृद्धि का 50% ही की जाती है, तो माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षकों की संख्या बढ़ाकर 66.63 लाख करनी होगी।[215]

लिहाज़ा, भारत में शिक्षा स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता को अंतरराष्ट्रीय मानकों के करीब लाने के लिए स्कूल शिक्षकों की संख्या वर्तमान 86.92 लाख से बढ़ाकर (106.44 + 66.63 =) 173.07 लाख करनी होगी, अर्थात सरकार को 86.15 लाख अतिरिक्त शिक्षक नियुक्त करना होंगे।

इसके अलावा, यदि स्कूलों में इतने शिक्षक नियुक्त किए जाएंगे, तो उसी हिसाब से लिपिकों से लेकर प्रयोगशाला सहायक, चपरासी जैसे सहायक कर्मियों की भी नियुक्तियां करना होंगी। इतने सारे स्कूलों का निर्माण करना होगा, फर्नीचर बनवाना होगा, पाठ्य पुस्तकें छापनी होंगी, वगैरह। तो इन सभी उद्योगों में नौकरियां बड़ी तादाद में बढ़ेंगी। इतने सारे बेरोज़गार युवाओं को स्कूलों में शिक्षक व सहायक कर्मियों के रूप में अच्छे वेतन पर नियुक्तियां मिलने से उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में भारी वृद्धि होगी, जिसके चलते इन उद्योगों में भी बड़ी संख्या में नौकरियां निर्मित होंगी। यदि हम गुणक को 1.5 मान लें (यानी शिक्षक की एक नौकरी पैदा होने से 1.5 अतिरिक्त नौकरियां निर्मित होंगी) तो इसका मतलब होगा कि शिक्षकों की 86.15 लाख नौकरियां निर्मित होने से 1.29 करोड़ अतिरिक्त नौकरियों का सृजन होगा, खास तौर से निजी क्षेत्र में — यानी कुल मिलाकर 2.1 करोड़ नौकरियां पैदा होंगी।

और अभी तो हमने सिर्फ शिक्षा की बात की है। लेकिन हमारे देश में सारी कल्याणकारी सेवाएं बुरी हालत में हैं। लिहाज़ा, यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यदि सरकार वास्तव में देश के सारे लोगों को अच्छी गुणवत्ता की कल्याणकारी सेवाएं उपलब्ध कराने का निर्णय लेती है, तो इसके फलस्वरूप कई करोड़ नौकरियां पैदा होंगी।

6. पैसा कहां से आएगा?

रोज़गार निर्माण के उपरोक्त सारे प्रस्ताव देने के बाद, एक सवाल को संबोधित करना ज़रूरी है — इन सारे प्रस्तावों को अमली जामा पहनाने के लिए पैसा कहां से आएगा? भारत सरकार का कहना है कि उसे अपना वित्तीय घाटा कम करने की ज़रूरत है और इसके लिए खर्च कम करना ज़रूरी है। इसलिए वह गरीबों को दी जाने वाली कल्याणकारी सुविधाएं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और पीने का पानी, पर अपने खर्च कम कर रही है।

यह एक मिथक ही है कि भारत सरकार बजट अड़चनों का सामना कर रही है। इसे सरकार और उसके बुद्धिजीवी कलम-घिस्सुओं ने ज़ोर-शोर से प्रचारित किया है। वास्तविकता यह है कि भारत सरकार हर साल अमीरों को लाखों करोड़ रुपए की सब्सिडी की खैरात दे रही है। इसके कुछ उदाहरण हम अध्याय IV के खंड (4i) में दे चुके हैं। रईसों को टैक्स और गैर-टैक्स रूप में दी जाने वाली ये रियायतें / सब्सिडी / हस्तांतरण सरकार के कम राजस्व और इसलिए कम बजट आवंटन के लिए ज़िम्मेदार हैं। जीडीपी के प्रतिशत के रूप में भारत सरकार का कुल राजस्व दुनिया में सबसे कम में से है। युरोपीय संघ के अधिकांश देशों के लिए यह 40% से अधिक है और बेल्जियम, फ्रांस, डेनमार्क और फिनलैंड जैसे देशों में तो 50% से भी अधिक है। दक्षिण अफ्रीका में यह 29.7%, अर्जेंटीना में 36.6% और ब्राज़ील में 31.6% है। विश्व के लिए औसत 30.2% है। दूसरी ओर भारत में कुल सरकारी राजस्व (केंद्र व राज्य मिलाकर) जीडीपी का मात्र 20.8% ही है।[216]

आइए, इस बात की गणना करते हैं कि यदि सरकार अमीरों को दिए जा रहे विभिन्न प्रकार के अनुदानों में से कुछ को सिर्फ आंशिक रूप से वापिस लेती है, और उन पर कुछ अतिरिक्त कर लगाती है, तो सरकार के राजस्व में कितनी वृद्धि होगी।

i. अमीरों को दी जाने वाली भारी कर-रियायतों में कटौती

मोदी सरकार हर साल अमीरों को कम से कम 6 लाख करोड़ की कर रियायतें दे रही है। यदि सरकार इन रियायतों में 75% की भी कमी कर दे, तो सरकार का वार्षिक कर संग्रह 4.5 लाख करोड़ रुपए से बढ़ जाएगा।

ii. सार्वजनिक धन का अमीरों को हस्तांतरण कम करे

जब से मोदी सरकार सत्ता में आई है, वह हर साल अमीरों को दिए गए कई लाख करोड़ रुपए के बैंक ऋण माफ कर रही है; वह औने-पौने दामों पर सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों का स्वामित्व निजी क्षेत्र को सौंप रही है; वह नगण्य रॉयल्टी भुगतान लेकर निजी क्षेत्र के निगमों को हमारे देश के खनिज संसाधनों का दोहन करने की अनुमति दे रही है; वह कॉर्पोरेट घरानों को अधोरचना के प्रोजेक्ट्स में उनके निवेश पर भारी सब्सिडी दे रही है, वगैरह-वगैरह। यदि सरकार इन रियायतों में आंशिक कटौती भी कर दे, तो सरकारी राजस्व

सालाना कई लाख करोड़ रुपए से बढ़ जाएगा। हमारी गणना के लिए न्यूनतम आंकड़ा रखकर यह मान सकते हैं कि यह वृद्धि सालाना 3 लाख करोड़ रुपए की होगी।

iii. सबसे धनाढ्य 1% पर संपत्ति कर लागू करे

संपत्ति कर लगाना कोई असामान्य बात नहीं है। दरअसल, विश्व में गैर-बराबरी इस हद तक बढ़ गई है कि डेवोस, स्विटज़रलैंड में आयोजित विश्व के अति-धनाढ्यों की जंबूरी में भी इस पर चिंता व्यक्त की गई, और दुनिया भर के 'व्यवस्था' से जुड़े अर्थशास्त्री मांग कर रहे हैं कि इस गैर-बराबरी को कम करने के लिए रईसों पर संपत्ति कर लगाया जाए। संपत्ति कर कई युरोपीय देशों में मौजूद भी है।[217]

2019 में क्रेडिट सुइस द्वारा लगाए गए अनुमान के मुताबिक भारत के सबसे रईस 1% लोग देश की कुल संपदा में से 42% के मालिक हैं। यह 5361 अरब डॉलर या 380.63 लाख करोड़ रुपए के बराबर है।[218] यदि इस पर न्यून 2% संपत्ति कर लगाया जाए तो सरकार को 7.6 लाख करोड़ रुपए की आमदनी होगी। (प्रसंगवश, 2020 के यूएसए राष्ट्रपति चुनाव में डेमोक्रेटिक पार्टी के प्रगतिशील प्रत्याक्षी वॉरेन और सैंडर्स दोनों ने न्यूनतम 2% संपत्ति कर, जिसे 1 अरब डॉलर से ज़्यादा संपदा वालों के लिए 6–8% तक बढ़ाने, का प्रस्ताव रखा था। उन्होंने इस कर की पैरवी सरकार के कल्याणकारी खर्चों को बढ़ाने के लिए की थी।)[219]

iv. सबसे सम्पन्न 1% पर उत्तराधिकार कर लागू करें

यह कर भी पूंजीवाद की विचारधारा से सर्वथा मेल खाता है। हालांकि पूंजीवाद के समर्थक तर्क देते हैं कि अमीर लोग 'नवाचारी प्रवृत्ति' और 'उद्यमशीलता' जैसे विशेष गुणों के दम पर अमीर हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि क्यों उनकी संतानें इस सारी संपत्ति की मालिक बन जाएं; इसलिए, यह सर्वथा न्यायोचित है कि सरकार अत्यंत अमीर लोगों पर उत्तराधिकार कर लगाए। 1980 के दशक तक कई विकसित देशों ने उत्तराधिकार कर लगाया हुआ था। पिछले तीन दशकों में, नवउदारवादी विचारधारा के उभार के कारण कई देशों ने यह कर समाप्त कर दिया है या काफी कम कर दिया है। हाल में, आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (OECD) की रिपोर्ट में संपत्ति की गैर-बराबरी को कम करने के लिए उत्तराधिकार कर को (पुन:) लागू करने का आव्हान किया गया है। आज भी फ्रांस में उत्तराधिकार कर 45% और दक्षिण कोरिया व जापान में 50% है।[220]

भारत दुनिया के सबसे गैर-बराबरी वाले देशों में है। इसलिए यह सर्वथा उचित है कि देश के अति-धनाढ्यों पर उत्तराधिकार कर लगाया जाए। यदि भारत सरकार 1% सबसे अमीर लोगों पर मात्र 33% का उत्तराधिकार कर लगाती है, और यदि यह माना जाए कि इन 1% सबसे अमीरों की 5% संपत्ति हर वर्ष इनके बच्चों या अन्य उत्तराधिकारियों को हस्तांतरित होती है, तो सरकार को उत्तराधिकार कर के रूप में सालाना (380.6 लाख

करोड़ X 0.05 X 0.33=) 6.28 लाख करोड़ रुपए प्राप्त होंगे।

v. योग

उपरोक्त चारों प्रस्तावों से सरकार को कुल (4.5 + 3 + 7.6 + 6.3 =) 21.4 लाख करोड़ रुपए का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा। यह राशि ग्रामीण व शहरी गरीबों दोनों के लिए रोज़गार गारंटी योजनाएं लागू करने, खेती में निवेश को दुगना करने, लघु उद्योग के लिए सब्सिडी बढ़ाने, और सरकार के कल्याणकारी खर्च में भारी वृद्धि के लिए पर्याप्त से भी अधिक होगी। ये वही उपाय हैं जो हमने ऊपर सुझाए हैं जो अर्थव्यवस्था में करोड़ों नौकरियों का सृजन करेंगे।

vi. उधार लेकर सरकारी खर्च में वृद्धि

अंतत:, नौकरियां पैदा करने की उपरोक्त योजनाओं के लिए वित्त की व्यवस्था करने का एक और महत्वपूर्ण तरीका यह है कि सरकार और अधिक उधार ले, यानी वित्तीय घाटा बढ़ाए। यह एक मिथक है कि वित्तीय घाटा अर्थव्यवस्था के लिए खराब होता है, और सरकार को घाटे की अर्थव्यवस्था के ज़रिए कल्याकारी खर्च के लिए पैसा नहीं जुटाना चाहिए! यह कपटपूर्ण सिद्धांत नवउदारवादी विचारधारा का हिस्सा है। जॉन मेनार्ड कीन्स ने बहुत पहले ही इस सिद्धांत को ख़ारिज कर दिया था। कीन्स बीसवीं सदी के महानतम अर्थशास्त्रियों में शुमार हैं। उनका तर्क था कि जिस अर्थव्यवस्था में गरीबी और बेरोज़गारी हो, वहां सरकार सार्वजनिक कार्यों को बढ़ावा देने तथा रोज़गार पैदा करने के लिए उधार ले सकती है, और वास्तव में लेना चाहिए, अर्थात वित्तीय घाटे को बढ़ाना चाहिए। सरकार द्वारा किया गया ऐसा खर्च 'गुणक' प्रभाव के ज़रिए निजी खर्च को भी बढ़ावा देगा। मंदी की स्थिति का सामना होने पर, सारे विकसित देशों ने कीन्स के आर्थिक सिद्धांत लागू किए हैं और उच्च स्तर के सार्वजनिक खर्च तथा वित्तीय घाटे का सहारा लिया है — जैसे कि 2007–09 की वित्तीय मंदी के दौरान और अब महामारी संकट के दौरान।[221] निर्मला सीतारमन (और वैश्वीकरण की शुरुआत के बाद से हमारे सभी पिछले वित्त मंत्री) वित्तीय घाटा कम करने की रट इसलिए लगा रही हैं क्योंकि विश्व बैंक निर्देशित एसएपी के तहत भारत सरकार पर थोपी गई शर्तों में यह भी एक है। एसएपी का एकमेव उद्देश्य विशाल देशी-विदेशी कॉर्पोरेशन्स के लाभ के लिए अर्थव्यवस्था का संचालन करना है।

निष्कर्ष के तौर पर

देश के समाने उपस्थित बेरोज़गारी का संकट मोदी सरकार की आर्थिक नीतियों का नतीजा है। यदि सरकार चाहे, तो वह वैकल्पिक नीतियां लागू कर सकती है जो करोड़ों ठीक-ठाक, अच्छी गुणवत्ता वाली और सुरक्षित नौकरियां पैदा हो सकती हैं। सवाल दिशा का है।

8. व्यवस्था बदलने के लिए एक हों

पिछले अध्याय में जिन समाधानों का ज़िक्र किया गया, वे बेरोज़गारी की समस्या के मध्यम अवधि के समाधान हैं। वे इस संकट के मूल कारण को समाप्त नहीं करेंगे, जो स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था है। यह व्यवस्था सिर्फ पूंजी के मालिकों का मुनाफा अधिकतम करने के लिए बनी है; लोगों को सार्थक काम देना केवल एक सह-उत्पाद है। बाज़ार में मांग के अनुसार, पूंजीपति उतने ही माल का उत्पादन करते हैं, जिसे बेचकर मुनाफा कमाया जा सके। इसी के मद्देनज़र वे उस माल के उत्पादन के लिए कम से कम लोगों को नियुक्त करते हैं, और उन्हें यथासंभव कम से कम वेतन देते हैं। मांग गिरने पर गैर-ज़रूरी कामगारों को निकाल दिया जाता है। कामगारों की एक बड़ी संख्या को जानबूझकर बेरोज़गार रखा जाता है; मज़दूरों की इस 'आरक्षित फौज' का इस्तेमाल काम में लगे मज़दूरों का वेतन कम रखने के लिए किया जाता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, कामगार महज़ मोहरे हैं। जब ज़रूरत हो तो पूंजीपति उन्हें काम देते हैं; जब ज़रूरत न हो, तो उन्हें बाहर फ़ेंक दिया जाता है।

लिहाज़ा, अगर हम बेरोज़गारी को जड़ से खत्म करना चाहते हैं, तो हमें पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को ही बदलना होगा और उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था लानी होगी जिसका बुनियादी तर्क और प्राथमिकता आम लोगों की खुशी और खुशहाली होगा, जिसके प्रत्येक सदस्य को एक सार्थक नौकरी, टिकाऊ आमदनी, अच्छी व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा, अच्छा घर तथा बुढ़ापे में सुरक्षा का जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

यह सही बात है कि इस तरह की वैकल्पिक व्यवस्था का निर्माण आसान नहीं है! लेकिन इस दीर्घकालिक लक्ष्य की प्राप्ति असंभव नहीं है! जी हां, एक नई दुनिया बनाना मुमकिन है! वेनेज़ुएला, निकरागुआ, और बोलीविया जैसे कुछ लैटिन अमरीकी देशों में यह हो भी रहा है। इन देशों में शक्तिशाली जन आंदोलनों ने प्रजातांत्रिक तरीकों से सत्ता हासिल की है। इन देशों की क्रान्तिकारी सरकारें वैकल्पिक गैर-पूंजीवादी आर्थिक मॉडल क्रियांवित कर रही हैं। वे सरकारी राजस्व और राष्ट्रीय संसाधनों का उपयोग अमीरों की तिज़ोरियां भरने के लिए नहीं बल्कि सामाजिक क्षेत्र में निवेश में भारी वृद्धि करने, सबको काम देने और निर्धनतम लोगों का जीवन स्तर बेहतर करने के लिए कर रही हैं। निस्संदेह, यह एक कठिन संघर्ष है क्योंकि स्थानीय पूंजीपति वर्ग और विकसित देशों की सरकारें तथा वहां के विशालकाय निगम इन क्रांतिकारी सरकारों को उखाड़ पेंकने की भरसक कोशिश कर रहे हैं। इसके लिए वे हर प्रकार के हथकंडे अपना रहे हैं — आर्थिक भीतरघात, आर्थिक और वित्तीय नाकेबंदी, क्रान्तिकारी नेताओं की हत्या की योजनाएं, सैन्य तख्तापलट के प्रयास और अतिवादी दक्षिणपंथी विपक्षी समूहों को करोड़ों डॉलर की सहायता। इन बाधाओं के बावजूद, इन सरकारों ने वैकल्पिक नीतियों को लागू करने में काफी प्रगति की है।

आइये, वेनेज़ुएला की बोलिवेरियन सरकार की उपलब्धियों पर एक नज़र डालें:[222]

- वेनेज़ुएला का संविधान सारे नागरिकों को स्नातक स्तर की मुफ्त शिक्षा की गारंटी देता है। सरकार ने ऐसे कार्यक्रम भी शुरू किए हैं कि जिन वयस्कों ने स्कूली शिक्षा पूरी नहीं की है, उन्हें शिक्षित किया जाए और यदि वे चाहें तो उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर भी मिले।
- सरकार ने सारे लोगों के लिए मुफ्त / सस्ती स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने के लिए कई कदम उठाए हैं। दूर-दराज इलाकों सहित देश भर में सैकड़ों उच्च क्वालिटी के स्वास्थ्य केंद्र स्थापित किए गए हैं। डॉक्टरों की कमी से निपटने के लिए, सरकार ने मुफ्त चिकित्सा शिक्षा कार्यक्रम शुरू किया है ताकि सामाजिक सरोकार से प्रेरित हज़ारों युवाओं को डॉक्टर बनाया जा सके।
- उसने सारे लोगों को रियायती कीमतों पर अच्छी गुणवत्ता के आवास उपलब्ध कराने के लिए एक 'कार्यक्रम' शुरू किया है; गरीबों को ये घर मुफ्त दिए जाते हैं। लोगों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए उन्हें घरेलू उपकरण व फर्नीचर भी सस्ते दामों पर दिए जा रहे हैं।
- वरिष्ठ नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से सरकार ने वृद्धावस्था पेंशन को बढ़ाकर राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन के बराबर कर दिया है। जीवन स्तर को उचित स्तर पर लाने के लिए न्यूनतम मज़दूरी में काफी वृद्धि की गई है।
- सरकार ने ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में लोगों को ठीक-ठाक जीविकाएं मुहैया कराने के लिए कई पहल की हैं। देश भर में, लोगों ने पहल लेकर सरकार की मदद से 'कलेक्टिव्स' बनाएं हैं। इन 'कलेक्टिव्स' को सामुदायिक परिषद (communal councils) कहते हैं और ये स्व-शासन के अंग हैं। यह आम लोगों को उनके क्षेत्र या इलाके के शासन में शामिल करके निचले स्तर पर प्रजातंत्र को बढ़ावा देते हैं। ये 'कलेक्टिव्स' सरकार द्वारा आंशिक रूप से वित्तपोषण की सहायता से उत्पादन व वितरण की परियोजनाओं को हाथ में लेते हैं। ये परियोजनाएं लोगों को जीविकाएं उपलब्ध कराने तथा उनका जीवन स्तर बेहतर करने पर केंद्रित होती हैं। वेनेज़ुएला में ऐसी हज़ारों सामुदायिक परिषदों का गठन हो चुका है।
- यूएसए द्वारा थोपे गए प्रतिबंधों के कारण अरबों डॉलर का नुकसान झेलने के बावजूद, वेनेज़ुएला की सरकार कोरोना महामारी को नियंत्रित करने के मामले में दुनिया की सबसे सफल सरकारों में रही है। इस सफलता का राज़ है कोविड-19 के खिलाफ लड़ाई के हर पहलू में वेनेज़ुएला के लोगों की भागीदारी। इसका परिणाम था कि 15 दिसंबर 2020 तक वेनेज़ुएला में प्रति दस लाख आबादी में संक्रमण की दर 3,822 थी और मृत्यु दर मात्र 34 थी। दूसरी ओर, ये दरें यूएसए में क्रमश: 20,265 और 938; यूके में 27,722 और 953; तथा भारत में 7,154 और 104 थीं।

यदि वेनेज़ुएला, निकरागुआ और बोलीविया के लोग एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्ष कर रहे हैं, तो हम भारत में भी कर सकते हैं! दरअसल, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से देश को मुक्त कराने के लिए संघर्ष करते समय हमारे राष्ट्र के संस्थापकों का सपना ऐसे ही देश का निर्माण करना था। उनके सपनों का सार हमारे संविधान के दिशा निर्देशक सिद्धांतों में व्यक्त हुआ है। ये सिद्धांत राज्य का आव्हान करते हैं कि वह एक समतामूलक समाज के निर्माण की दिशा में कार्य करे, सारे नागरिकों को अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा तथा पोषण उपलब्ध कराने का प्रावधान करे, और सारे नागरिकों को सार्थक काम तथा इतनी मज़दूरी सुनिश्चित करे कि वे उम्दा जीवन स्तर और फुरसत के पलों का पूरा आनंद ले सकें।

प्रिय दोस्तों,

शंकालु बने रहने से कुछ हासिल नहीं होगा। हमें एक बेहतर भविष्य का सपना देखना होगा। यह विश्वास रखना होगा कि दुनिया को बदला जा सकता है। लेकिन इसे साकार करने के लिए, हमें अपने छोटे-छोटे संघर्ष शुरू करने होंगे — अन्याय और शोषण के खिलाफ, लोकतंत्र की रक्षा में। देश भर में लोग अपनी विशिष्ट मांगों को लेकर संघर्ष कर रहे हैं, हमें उनके साथ खड़े रहना होगा — चाहे वह किसानों का कर्ज़माफी का और उपज के लाभकारी मूल्य के लिए संघर्ष हो, या युवाओं का नौकरी के लिए संघर्ष हो, या कॉलेज की फीस कम करने के लिए छात्रों का संघर्ष हो, या कारखाना मज़दूरों का श्रम कानूनों को खत्म करने के खिलाफ और वेतन वृद्धि के लिए संघर्ष हो, या असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का काम के बेहतर हालात और सामाजिक सुरक्षा के लिए संघर्ष हो, या शिक्षकों का स्थायी किए जाने को लेकर संघर्ष हो, या हिंसा के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष हो, या दलितों का जातिगत अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष हो, या दक्षिणपंथी हिंसक संस्कृति के रक्षकों की हिंसा के खिलाफ अल्पसंख्यकों का संघर्ष हो, या अभिव्यक्ति की आज़ादी, धर्म की आज़ादी जैसे संवैधानिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष हो...। हमें इन विभिन्न संघर्षों को एकजुट करने का प्रयास करना होगा। इन संघर्षों में भाग लेते हुए, हमें लोगों में यह चेतना भी बढ़ानी होगी कि इन सब अन्यायों की जड़ें पूंजीवादी वैश्वीकरण की प्रणाली में हैं, और उन्हें अपने संघर्ष के लक्ष्यों को विस्तार देकर शोषणमूलक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष और उसे बदलने की लड़ाई में तबदील करना होगा।

जैसे-जैसे लोगों की चेतना बढ़ेगी, ये अलग-अलग संघर्ष एक होकर एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन का रूप ले लेंगे। इस जन आंदोलन का मकसद प्रजातांत्रिक तरीकों से सत्ता में आना तथा वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को बदलना होगा। वह उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करेगा जो आर्थिक गतिविधियों को लोगों को अच्छा, संतोषदायक, सुरक्षित तथा यथासंभव रचनात्मक जीवन जीने की ज़रूरतों के लिए आयोजित करेगा, पूंजीपतियों का मुनाफा अधिकतम करने के लिए नहीं।

संदर्भ

1 Arun Kumar, “What the 23.9% Drop in Q1 GDP Tells – and Doesn’t Tell – Us About the Economy”, 2 September 2020, https://thewire.in; “Economic Contraction is 40% Not 24% - Prof. Arun Kumar”, *Newsclick*, 9 September 2020, https://www.newsclick.in.

2 “National Unemployment Day’ Trends on Twitter on PM Modi’s Birthday”, 17 September 2020, https://thelogicalindian.com.

3 “This State Received 25 Lakh Applications, Including Phds for Posts of Peon and Guard: Shocking!” 31 January 2017, http://indiatoday.intoday.in.

4 “Over 93,000 Candidates, Including 3,700 PhD Holders Apply for Peon Job in UP”, 30 August 2018, https://economictimes.indiatimes.com.

5 “Nearly 5 Lakh MBA, BTech, Postgraduates Apply for Group D Jobs in Bihar”, 22 November 2019, https://www.indiatoday.in.

6 “PM Modi Counters Opposition on Unemployment, Economy, GST, NRC”, 11 August 2018, https://www.narendramodi.in.

7 “Most Unemployment Surveys are Skewed, PM Narendra Modi Tells House”, 8 February 2019, https://www.business-standard.com.

8 “Survey Discontinued, Centre Clueless about Unemployment”, 6 March 2018, https://www.dnaindia.com; Sona Mitra, “The Indian Employment–Unemployment Surveys: Why Should it Continue?” 13 August 2018, http://www.cbgaindia.org; Rosa Abraham et al., “A (Failed) Quest to Obtain India’s Missing Jobs Data”, 1 February 2019, https://thewire.in.

9 James Wilson, “Lies, Deceit and Invented Truths in the Modi Regime”, 10 February 2019, https://www.telegraphindia.com; “2 More Members of NSC Quit on Feeling Sidelined”, 30 January 2019, https://economictimes. indiatimes.com.

10 “Cat Finally Out of the Bag: Unemployment at 45-Year High, Government Defends Data”, 31 May 2019, https://www.indiatoday.in.

11 1983 और 1993–04 के लिए आंकड़े यहां से: *Economic Survey, 2001–02, Labour and Employment*, Tables 10.6 और 10.7, http://indiabudget.nic.in; 2010–11 के लिए आंकड़े यहां से: *Economic Survey, 2014–15, Human Development*, Table 9.1, p. 135, http://indiabudget.nic.in; 2017–18 के लिए आंकड़े यहां से: Santosh Mehrotra, Jajati K. Parida, *India’s Employment Crisis: Rising Education Levels and Falling Non-Agricultural Job Growth*, October 2019, CSE Working Paper, https://cse.azimpremjiuniversity.edu.in.

12 *All India Survey on Higher Education*, 2017–18 और 2010–11, Department of Higher Education, MHRD, Government of India, https://mhrd.gov.in.

13 *All India Survey on Higher Education*, 2017–18, वही.

14 Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis,* 2019, पूर्व-उद्धृत.

15 हमारे द्वारा गणना की गई है. यदि बाद के वर्षों में एलएफपीआर 2004-05 के जितना ही रहता, तो 2017-18 में युवा श्रम बल 20.72 करोड़ होता. इसका मतलब है कि 2017-18 में युवा श्रम बल में से (20.72 – 14.07=) 6.65 करोड़ लोग गायब हैं. इसमें से अधिक से अधिक 1.39 करोड़ ने 2004-05 से 2017-18 के दौरान शिक्षण संस्थानों में दाखिला लिया होगा. इसका अर्थ यह हुआ कि 2017-18 में वास्तविक युवा श्रम बल 20.72 – 1.39 = 19.33 करोड़ है, और युवा बेरोज़गारी 19.33 – 11.57 = 7.76 करोड़ है.

16 “Red Alert — Rising Cases of Student Suicides Sound Alarm Bells Across India”, 5 May 2017, http://www.hindustantimes.com; Devanik Saha, “A Student Commits Suicide Every Hour in India”, 6 April 2017, http://www.indiaspend.com.

17 “List of Countries by Population Density” (World Population Prospects 2019, UN से प्राप्त), http://statisticstimes.com.

18 “List of Countries and Territories by Population Density”, *Wikipedia*, https://en.wikipedia.org. सभी आंकड़े नवीनतम जनगणना और आधिकारिक अनुमानों पर आधारित हैं.

19 Patrick Gillespie, “Brazil’s Unemployment Hits Record High: 14 Million People Out of Work”, 1 June 2017, http://money.cnn.com; “Unemployment Statistics”, http://ec.europa.eu.

20 Lakshman Krishnamurthi, Sugandha Khandelwal, “Agriculture Journal: China Versus India by the Numbers”, 20 September 2011, https://blogs.wsj.com.

21 इस पर और अधिक जानकारी के लिए, हमारी पुस्तिका देखें: *Is the Government Really Poor*, Lokayat publication, Pune, 2018, http://lokayat.org.in.

22 C.P. Chandrasekhar and Jayati Ghosh, “Central Government Fiscal Stance during the Pandemic”, 8 September 2020, https://www.networkideas.org.

23 Manash Gohain, “60 Per Cent of Engineering Graduates Unemployed”, 18 March 2017, http://economictimes.indiatimes.com.

24 “Only 7% MBA Graduates Employable; Most Earning Less than Rs 10,000 a Month: Assocham”, 27 April 2016, http://www.dnaindia.com.

25 यह आंकड़ा 1994 के लिए है. 1994 में कुल कार्यबल 37.47 करोड़ था, और सार्वजनिक क्षेत्र में कुल रोजगार 1.94 करोड़ था. सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार का आंकड़ा यहां से लिया गया है: *Statistical Appendix, Economic Survey*, 1999–2000.

26 R. Nagaraj, “Public Sector Employment: What has Changed?” 2014, http://www.igidr.ac.in; *Economic Survey, Statistical Appendix: 2010–11*, Table A 52 और *2018–19*, Table A 65.

27 यहां एक स्पष्टीकरण आवश्यक है. एनएसएसओ और पीएलएफएस सर्वेक्षण सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार के आंकड़े देते हैं. उनके आंकड़े दिखाते हैं की 2004-05 से 2017-18 की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र के रोजगार में वृद्धि हुई है. आंकड़ों में यह अंतर शायद इसलिए है क्योंकि सरकार काफी बड़ी संख्या में लोगों को निजी ठेकेदारों के मार्फत काम पर रख रही है, और एनएसएसओ सर्वेक्षण इतने सूक्ष्म रूप से तैयार नहीं किए गए हैं कि वे सरकार द्वारा सीधे नियोजित लोगों और ठेकेदारों के माध्यम से नियोजित लोगों के बीच अंतर कर सकें. इस पर विस्तार से चर्चा के लिए देखें: R. Nagaraj, वही.

28 Subodh Varma, “Over 60 Lakh Government Posts Lying Vacant Under Modi Raj”, 27 January 2019, https://www.newsclick.in.

29 Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis,* 2019, पूर्व-उद्धृत.

30 Zeeshan Shaikh, “Every 3rd Indian Migrant, Most Headed South”, 5 December 2016, http://indianexpress.com.

31 Avijit Mistri, “Estimation of Internal Migration in India, 2011 Census Based on Life Table Survival Ratio (LTSR) Method”, 2015, https://mpra.ub.uni-muenchen.de.

32 Madhavi Rajadhyaksha, “70% Migrants to Mumbai are from Maharashtra”, 17 September 2012, http://timesofindia.indiatimes.com.

33 Chinmay Tumbe, “India is Not Being Overrun by Immigrants”, 28 July 2019, https://www.livemint.com; Nikhil Rampal, “Maximum Immigrants from Pakistan and Bangladesh Entered India More than 30 Years Ago”, 14 December 2019, https://www.indiatoday.in.

34 हमने यह गणना इस प्रकार की है: 1993-94 से 2017-18 के बीच श्रम बल में कुल वृद्धि = 60.01 – 38.19 = 21.82 करोड़. प्रति वर्ष वृद्धि = 21.82/24 = 9.1 करोड़ /वर्ष.

35 इस इतिहास पर अधिक जानकारी के लिए, यह पुस्तक देख सकते हैं: Leo Huberman, *Man’s Worldly Goods*, Aakar Books, Delhi.

36 चूंकि पूंजीपतियों द्वारा उपभोग उनके मुनाफे का बहुत छोटा हिस्सा होता है, इसलिए हम मान सकते हैं कि वे सम्पूर्ण लाभ का पुन:निवेश कर रहे हैं.

37 Eric Hobsbawm, *The Age of Revolution, 1780–1848*, Abacus, London, 1962, pp. 54, 61; Kenneth L. Campbell, *Western Civilization: A Global and Comparative Approach: Volume 2*, p. 129, https://books.google.co.in.

38 "Factory Labour and Physical Deformaties", http://spartacus-educational.com; Anwar Shaikh, *Capitalism: Competition, Conflict, Crises*, p. 132, https://books.google.co.in; "Working Conditions in Factories", http://www.encyclopedia.com; "Poverty of Urban Industrial Workers in Britain in the Early 19th Century", December 2007, https://www.zum.de; E.P. Thompson, *The Making of the English Working Class*, pp. 249–250, https://uncomradelybehaviour.files.wordpress.com.

39 उदाहरण के लिए देखें: Arthur J. Miller, "What Ever Happened to the Eight Hour Day?" Industrial Workers of the World, https://www.iww.org; "Where Did the 40-Hour Workweek Come From?" 1 September 2014, http://www.nbcnews.com; Meg Luxton, June Shirley Corman, *Getting By in Hard Times: Gendered Labour at Home and on the Job*, p. 8, https://books.google.co.in; Danny Lucia, "The Unemployed Movements of the 1930s: Bringing Misery Out of Hiding", http://isreview.org; David Matthews, "The Working-Class Struggle for Welfare in Britain", *Monthly Review*, 1 February 2018, https://monthlyreview.org.

40 Dennis O. Flynn, Arturo Giráldez, "Born with a Silver Spoon: The Origin of World Trade in 1571", https://www.researchgate.net; Nuno Palma, André C. Silva, "Spending a Windfall: American Precious Metals and Euro-Asian Trade, 1531–1810", November 2016, http://www.ggdc.net.

41 द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाजी जर्मनी द्वारा कब्ज़ा किए गए पोलिश क्षेत्रों में निर्मित और संचालित एकाग्रता और मृत्यु शिविरों का एक परिसर.

42 Eduardo Galeano, *Open Veins of Latin America*, Monthly Review Press, New York, 1973, p. 50; David E. Stannard, "Genocide in the Americas", 19 October 1992, http://www.skeptic.ca; Adam Jones, *Genocide: A Comprehensive Introduction*, Chapter 3, https://books.google.co.in.

43 David E. Stannard, *American Holocaust: The Conquest of the New World*, p. 317, https://books.google.co.in; Henry Epps, *A Concise Chronicle History of the African–American People Experience in America*, pp. 68–70, https://books.google.co.in.

44 उदाहरण के लिए देखें: Walter Rodney, *How Europe Underdeveloped Africa*, 1973, Chapters 3 और 4, http://abahlali.org.

45 "16th – 17th Centuries", www.eablanchette.com; "Economic and Social Developments under the Mughals", http://www.columbia.edu; "Great Divergence", https://en.wikipedia.org.

46 Christopher V. Hill, *South Asia: An Environmental History*, p. 77, https://books.google.co.in; Johannes Lang, "Effects of Europe's Commercial Expansion into the Indian Ocean on Asian and African Coastal Economies, 1600–1650", http://www.centrum3.at.

47 "Western Colonialism: European Expansion Since 1763", https://www.britannica.com; Harry Magdoff, "Imperialism: A Historical Survey"; यह इसमें है: *Imperialism: From the Colonial Age to the Present*, p. 108, https://books.google.co.in.

48 "Great Depression", https://www.britannica.com.

49 Nicholas Crafts, Peter Fearon, "Lessons from the 1930s Great Depression", *Oxford Review of Economic Policy*, 1 October 2010, https://academic.oup.com.

50 Paul Baran, Paul Sweezy, *Monopoly Capital*, K.P. Bagchi & Company, Calcutta, 1994, p. 232.

51 वही, pp. 222–225.

52 John Bellamy Foster, R.W. McChesney, "The Endless Crisis", May 2012, https://monthlyreview.org. 2001-18 की अवधि के लिए गणना हमारे द्वारा की गई है.

53 Fred Magdoff, John Bellamy Foster, “The Plight of the U.S. Working Class”, *Monthly Review*, January 2014, New York, https://monthlyreview.org.

54 हमारे द्वारा की गई गणना, जो कि अप्रैल 2019 के यूएसए के रोजगार डेटा पर आधारित है. यह डाटा इधर उपलब्ध है: The Employment Situation – Bureau of Labor Statistics, https://www.bls.gov. कुल नियोजित = 1566.5 लाख; कुल बेरोजगार =58.2 लाख. बेरोज़गारी के इस आंकड़े में, हमने जोड़ा है: पूर्णकालिक नौकरी के इच्छुक अंशकालिक कर्मचारी (46.5 लाख), सीमांत रोजगार में श्रमिक (marginally employed workers) (14.1 लाख) और वे श्रमिक जिन्होंने एक वर्ष से अधिक समय से नौकरी की तलाश छोड़ दी है (102.2 लाख). [हमने इस बाद के आंकड़े की गणना श्रम बल भागीदारी दर में गिरावट के आंकड़ों से की है. यह 2000 में 67.3% से गिरकर अप्रैल 2019 में 62.8% पर आ गई थी. इसके लिए आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *Labor Force Statistics from the Current Population Survey*, https://www.bls.gov.] इन आंकड़ों के आधार पर: कुल बेरोज़गार = 221 लाख; कुल श्रम बल = 1566.5 + 58.2 + 102.2 + 14.1 = 1741 लाख.

55 हमारी गणना. हमने इस गणना को करने के लिए यह माना है कि नियोजित श्रमिकों का एक चौथाई गिग इकॉनमी में है = 391.6 लाख (अप्रैल 2019 के लिए). इसमें से, हमने माना है कि आधे अंशकालिक काम कर रहे हैं — आर्थिक और गैर-आर्थिक दोनों कारणों के चलते. यानी बाकी आधे या 196 लाख पूर्णकालिक रोजगार के आंकड़ों में शामिल हैं. इसमें से, हमने माना है कि आधे पारंपरिक पूर्णकालिक रोजगार के इच्छुक हैं. इसका अर्थ यह हुआ कि बेरोज़गारी + अर्ध-बेरोज़गारी की दर है = (221 + 98) / 1741 = 18.3%.

56 Fred Magdoff et al., “The Plight of the U.S. Working Class”, पूर्व-उद्धृत; “Real Median Household Income in the United States”, https://fred.stlouisfed.org.

57 Fred Magdoff et al., वही.

58 Julia Conley, “‘Staggering’ New Data Shows Income of Top 1% Has Grown 100 Times Faster than Bottom 50% Since 1970”, 9 December 2019, https://www.commondreams.org.

59 “Wealth Inequality in the United States”, https://inequality.org.

60 गणना के लिए आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *Underemployment and Potential Additional Labour Force Statistics*, Eurostat, http://ec.europa.eu; *Unemployment Statistics*, Eurostat, http://ec.europa.eu.

61 *Europe 2016 Indicators – Poverty and Social Exclusion*, 26 May 2016, http://ec.europa.eu.

62 “The Economic State of Black America in 2020”, https://www.jec.senate.gov.

63 उदाहरण के लिए देखें: Robert Wallace et al., “Covid19 and the Circuits of Capital”, *Janata Weekly*, 29 March 2020, https://janataweekly.org.

64 चीन ने वायरस से लड़ने के लिए एकदम विपरीत तरीका अपनाया. उसने वायरस को नियंत्रित करने के लिए कड़े कदम उठाए, एक कठोर लॉकडाउन लागू किया, सभी का परीक्षण किया, सभी प्रभावित लोगों की मुफ्त स्वास्थ्य देखभाल की, और लॉकडाउन से प्रभावित सभी को मुफ्त आवश्यक राहत प्रदान की. इन कदमों ने संक्रमण की श्रृंखला को तोड़ने में मदद की, और महामारी पूरे देश में कभी नहीं फैली. नतीजतन, 144 करोड़ की आबादी वाले चीन में सितंबर 2020 की शुरुआत में 85,194 कोरोना के मामले और 4,634 मौतें हुई थी, जबकि उससे एक-चौथाई से कम आबादी (33.2 करोड़) वाले यूएसए में 67 लाख कोरोना मामले और 198,680 मौतें हुई थी. इस पर अधिक जानकारी के लिए देखें: Vijay Prashad and John Ross, “The Difference between the U.S. and China’s Response to COVID-19 is Staggering”, 15 September 2020, https://www.counterpunch.org.

65 यहां पर उपलब्ध डेटा से परिकलित: www.worldometers.info.

66 “Global Economy to Contract by 5.2 per cent in 2020: Report”, 8 July 2020, https://economictimes.indiatimes.com.

67 “Why the Real Unemployment Rate is Likely Over 11%”, 8 September 2020, https://www.cnbc.com; “3 Reasons Unemployment Is Already at Great Depression Levels”, 19 May 2020, https://www.forbes.com.

68 Jhacova Williams, “Laid Off More, Hired Less: Black Workers in the COVID-19 Recession”, 29 September 2020, https://www.rand.org.

69 Noam Chomsky, *Class Warfare*, Oxford University Press, Delhi, 1998, p. 19.

70 Eduardo Galeano, *Open Veins of Latin America,* पूर्व-उद्धृत.

71 Walden Bello et al., *The Dark Victory: The United States, Structural Adjustment and Global Poverty*, Third World Network, Malaysia, 1994, p. 69.

72 Paul Sweezy, Harry Magdoff, "The Two Faces of Third World Debt", *Monthly Review*, January 1984, https://monthlyreviewarchives.org.

73 Walden Bello, Shalmali Guttal, "Crisis of Credibility: The Declining Power of the International Monetary Fund", July–August 2005, http://www.multinationalmonitor.org.

74 Eric Toussaint, "Debt Against the People: An ABC", 29 January 2020, https://www.cadtm.org.

75 Walden Bello & Shea Cunningham, *The World Bank and the IMF*, July 1994, https://www.tni.org.

76 John Bellamy Foster et al., "Monopoly and Competition in Twenty-First Century Capitalism", *Monthly Review*, April 2011, http://monthlyreview.org.

77 "What Companies are the Major Players in the Airline Supply Business?" 4 May 2015, http://www.investopedia.com.

78 "The Global Music Machine", http://www.bbc.co.uk.

79 "Worldwide Semiconductor Revenue Grew 2.6 Percent in 2016, According to Final Results by Gartner", 15 May 2017, http://www.gartner.com.

80 Duncan Green, "The World's Top 100 Economies: 31 Countries; 69 Corporations", 20 September 2016, https://blogs.worldbank.org; "Study: Big Corporations Dominate List of World's Top Economic Entities", 12 September 2016, https://www.theguardian.com.

81 John Bellamy Foster et al., "Monopoly and Competition in Twenty-First Century Capitalism", पूर्व-उद्धृत.

82 John Bellamy Foster, "The New Imperialism of Globalized Monopoly–Finance Capital", पूर्व-उद्धृत.

83 वही.

84 John Bellamy Foster et al., "The Global Reserve Army of Labor and the New Imperialism", *Monthly Review*, November 2011, http://monthlyreview.org.

85 John Bellamy Foster, Robert W. McChesney, "The Global Stagnation and China", *Monthly Review*, February 2012, http://monthlyreview.org.

86 *Fortune Global 500*, https://fortune.com.

87 *World Employment and Social Outlook: Trends 2019*, https://www.ilo.org. अपनी गणना में, हमने वैश्विक श्रम शक्ति के आंकड़ों में वैश्विक संभावित श्रम शक्ति (यानी आर्थिक रूप से निष्क्रिय कामगार) के आंकड़ों को शामिल किया है.

88 "World Bank: Half the World Lives on Less Than $5.50 a Day", 17 October 2018, https://www.usnews.com

89 *Global Wealth Databook 2019*, October 2019, Credit Suisse, Switzerland. इस रिपोर्ट में कहा गया है कि सबसे अमीर 1 फीसदी के पास वैश्विक संपत्ति का 45% हिस्सा है. लेकिन यह रिपोर्ट अमीरों की संपत्ति को कम करके आंकती है, क्योंकि इसमें वे (अनुमानित) $21-32 ट्रिलियन शामिल नहीं हैं जो अमीरों ने 'टैक्स हेवन' में जमा किए हुए हैं. (देखें: Jason Hickel, "Global Inequality May Be Much Worse than We Think", 8 April 2016, https://www.theguardian.com.) इन्हें जोड लिया जाए तो शीर्ष 1 फीसदी की संपत्ति कुल वैश्विक संपत्ति के 50% को पार कर जाती है. 2019 में कुल वैश्विक संपत्ति 360.6 ट्रिलियन डॉलर थी.

90 *Time to Care*, Oxfam, 20 January 2020, https://www.oxfam.org.

91 "How Much Does it Cost to End Poverty?" 16 December 2017, https://borgenproject.org; Ben Harack, "How Much Would it Cost to End Extreme Poverty in the World?" 26 August 2011, https://www.visionofearth.org. 400 अरब डॉलर की गणना 2018 के लिए है. सैक्स ने 2002 के मूल्यों पर अपने अनुमानों को आधारित किया था; तब, वह राशि ओईसीडी देशों का कुल जीडीपी का 1% से भी कम थी. ओईसीडी

देशों का कुल जीडीपी का 1% 2018 में 400 अरब डॉलर था. ओईसीडी देशों का कुल जीडीपी का आंकड़ा यहां से लिया गया है: *GDP (current US$) – OECD members*, https://data.worldbank.org.

92 "Investment Needs to Achieve the Sustainable Development Goals: Understanding the Billions and Trillions", 28 September 2015, https://resources.unsdsn.org.

93 Alan Macleod, "Aid Groups Call for Worldwide COVID-19 Bailout Amid Fears of Mass Hunger", 17 July 2020, https://www.mintpressnews.com.

94 "Billionaires See Fortunes Rise by 27% During the Pandemic", 7 October 2020, https://www.bbc.com.

95 उदाहरण के लिए देखें: Purshottam Agrawal, *अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका समय*, Rajkamal Prakashan, 2009.

96 David Clingingsmith, Jeffrey G. Williamson, *India's Deindustrialisation in the 18th and 19th Centuries*, Harvard University, 2005, http://www.tcd.ie; Professor Angus Maddison, "The World Economy (GDP): Historical Statistics", http://www.theworldeconomy.org.

97 "The Looting of India", 10 December 2016, http://www.indialegallive.com.

98 Indrajit Ray, *Bengal Industries and the British Industrial Revolution (1757–1857)*, p. 174, https://books.google.co.in.

99 Purshottam Agrawal, पूर्व-उद्धृत, p. 118; "Remembering India's Forgotten Holocaust", 13 June 2014, http://www.tehelka.com.

100 डॉ. अम्बेडकर का भी यही मत था. उदाहरण के लिए देखें: Sasha Riser-Kositsky, "The Political Intensification of Caste: India Under the Raj", *Penn History Review*, University of Pennsylvania, Fall 2009, http://repository.upenn.edu.

101 G. Gangadhara Rao, "Inevitability of Gandhian Village Reconstruction in Rural India", *Mainstream*, 6 October 2014, http://www.mainstreamweekly.net; Shelley Douglass, "Studying Gandhi: A Brief Introduction to Gandhi's Life and Ideas", http://www.context.org; Sudarshan Iyengar, "Gandhiji and Nehru on Economic Policies on the Eve of Independence and After", *Janata Weekly*, Mumbai, 26 January 2018, https://lohiatoday.files.wordpress.com.

102 Brij Kishore Sharma, "Jawaharlal Nehru's Model of Development", *Proceedings of the Indian History Congress*, Vol. 73 (2012), https://www.jstor.org; H.K. Manmohan Singh, "Jawaharlal Nehru and Economic Change", *Economic and Political Weekly*, August 1975, https://www.epw.in.

103 Aditya Mukherjee, *Imperialism, Nationalism and the Making of the Indian Capitalist Class*, Sage Publications, New Delhi, pp. 49–50, 358, 396–401.

104 Shelley Douglass, "Studying Gandhi", पूर्व-उद्धृत; Jivanta Schöttli, "Strategy and Vision in Politics: Jawaharlal Nehru's Policy Choices and the Designing of Political Institutions", 2009, http://archiv.ub.uni-heidelberg.de.

105 नेहरू के दोनों उद्धरण यहां से लिए गए हैं: *Full Text of 'Selected Speeches of Nehru',* Vol. 5, https://archive.org.

106 Prabhat Patnaik, "The Myths of Capitalism", 4 July 2011, https://mronline.org

107 जोसेफ स्टिग्लिट्ज़ को उद्धृत करते हुए नोम चॉम्स्की ने यह बात अपनी पुस्तक में कही है: Noam Chomsky, *Profit Over People*, Madhyam Books, Delhi, 1999, p. 32; यह भी देखें: "India and its Contradictions: A Dialogue with Amartya Sen, Gurcharan Das, Meghnad Desai", 28 July 2013, http://www.ndtv.com.

108 Amit Basole, "Income Inequality in India: Trends from the World Top Incomes Database", 31 August 2015, http://www.ideasforindia.in.

109 Philip Oldenburg (ed.), *India Briefing: 2001*, https://books.google.co.in; Arvind Panagariya, *India in the 1980s and 1990s: A Triumph of Reforms*, 6 November 2003, http://www.imf.org.

110 Dalip S. Swamy, “The World Bank and Globalisation of Indian Economy”; यह इसमें है: *Economics Development and the Quest for Alternatives Essays in Honour of Professor M.A. Oommen*, p. 114, https://www.google.co.in.

111 वही, pp. 117–19.

112 उदाहरण के लिए देखें: वही; *Structural Adjustment in India*, World Bank, 2012, http://lnweb90.worldbank.org; Montek S. Ahluwalia, *Structural Adjustment and Reform in Developing Countries*, April 1994, www.planningcommission.nic.in; Ashwini Deshpande, Prabirjit Sarkar, “Structural Adjustment in India – A Critical Assessment”, *Economic and Political Weekly*, 9 December 1995, http://www.epw.in; David Harvey, *A Brief History of Neoliberalism*, Oxford University Press, 2005, pp. 7–8, 29, 64–66.

113 जीडीपी विकास दर के आंकड़ों की पहली दो पंक्तियां यहां से ली गई हैं: T.S. Papola, Partha Pratim Sahu, *Growth and Structure of Employment in India*, March 2012, http://isidev.nic.in. शेष जीडीपी विकास दर के आंकड़ों की गणना हमने की है, जिसके लिए डाटा यहां से लिया गया है: *Data | Ministry of Statistics and Program Implementation*, http://mospi.nic.in/data. 1972-73 से 1983 के लिए सीएजीआर यहां से लिया गया: S. Mahendra Dev, *Employment and Growth in India*, http://www.aiggpa.mp.gov.in. शेष सीएजीआर की गणना हमने की है. इसके लिए 1983 के रोजगार के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *Economic Survey, 2001–02: Social Sectors – Labour and Employment*, http://indiabudget.nic.in; और शेष रोजगार के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: Santosh Mehrotra et al., “Explaining Employment Trends in the Indian Economy: 1993–94 to 2011–12”, *Economic and Political Weekly*, Mumbai, 9 August 2014, https://www.epw.in; Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, पूर्व-उद्धृत.

114 *Twelfth Five Year Plan: Volume 3 – Social Sectors*, p. 131, http://planningcommission.gov.in.

115 Siddharth Varadarajan, “The Cult of Cronyism”, 31 March 2014, http://newsclick.in; Lola Nayar et al., “All Along the Waterfront”, 10 March 2014, http://www.outlookindia.com.

116 Siddharth Varadarajan, वही.

117 “It’s 100% FDI in Most Sectors, Including Defence”, 20 June 2016, http://www.thehindu.com.

118 हमारा अनुमान. बजट दस्तावेजों से पता चलता है कि 2014-15 और 2015-16 में, मोदी सरकार ने देश के अति-अमीरों को कुल 11 लाख करोड़ रुपए की टैक्स रियायतें दी थी. 2016-17 में, सरकार ने आंकड़ों को कम दिखाने के लिए गणना करने की अपनी पद्धति को ही बदल दिया. हमारी गणना के अनुसार टैक्स रियायत 2016-17 में असल में बढ़ गई थी. बाद के वर्षों में, सरकार ने इन कर रियायतों का पूरा अनुमान लगाना ही बंद कर दिया है. अमीरों को सब्सिडी देने के प्रति सरकार के समग्र रवैये को ध्यान में रखते हुए, यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि बाद के वर्षों में टैक्स रियायतें अधिक नहीं तो पहले दो वर्षों के जितनी तो होनी ही चाहिए. इस पर अधिक जानकारी के लिए हमारा लेख देखें: Neeraj Jain, “Pandering to Dictates of Global Finance”, *Janata Weekly*, 19 February 2017, http://www.janataweekly.org.

119 “Two Crore Indians File Returns but Pay Zero Income Tax”, 23 October 2018, https://economictimes.indiatimes.com.

120 *बिजनेस टुडे* की एक रिपोर्ट के अनुसार, मोदी सरकार के पहले पांच वर्षों के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने कुल मिलाकर 4.94 लाख करोड़ रुपए के ऋण माफ किए हैं, जिसमें से कृषि से संबंधित कुल ऋण केवल 39,000 करोड़ रुपए के हैं: “Bad Loans Worth Rs 80,893 Crore Written Off by Banks Till September Quarter”, 3 December 2019, https://www.businesstoday.in. यह भी देखें: Prasanna Mohanty, “Reality Check: RBI Acts Penny-Wise-Pound-Foolish in Dealing with NPA Crisis”, 6 November 2019, https://www.businesstoday.in.

121 Sucheta Dalal, “Loan Write Offs Is the ‘Biggest Scandal of the Century’”, 9 May 2016, https://www.moneylife.in.

122 “Gross NPAs of PSBs Declines to Rs 8.06 Lakh Crore End March 2019: FM”, 25 June 2019, https://www.business-standard.com.

123 “Banks May Have to Take 60% Haircut on 12 Largest NPAs: Crisil”, 26 June 2017, http://www.thehindubusinessline.com; “Haircuts: A Way to Address NPAs in Banking System”, 24 February 2017, https://economictimes.indiatimes.com.

124 “Government Raises Rs 2.79 Lakh Crore Through Divestment in Last 5 Years”, 3 December 2019, https://economictimes.indiatimes.com.

125 “FM Sticks Revenue Stamp: Disinvestment Targets Treble in New Budget”, 2 February 2020, https://www.indiatoday.in; “Centre Proposes to Cut Stake in Select Firms to Under 51%”, 11 September 2019, https://www.outlookindia.com.

126 “Government All Set to Disinvest ‘Revenue Churner’ BPCL; Here’s What it Means”, 25 November 2020, https://www.dnaindia.com; Piyush Pandey, “Notional Loss in BPCL Sale Plan at Rs 4.5 lakh cr.”, 10 December 2019, https://www.thehindu.com.

127 अमेरिकी व्यापार पत्रिका 'फोर्ब्स' द्वारा हर साल तैयार की गई ज्ञात अमेरिकी डॉलर के अरबपतियों की एक वैश्विक सूची.

128 Soutik Biswas, “India’s Billionaires and the Wealth of the Nation”, 12 October 2012, https://www.bbc.com; “Global Billionaire Wealth Scales New Heights; India Disappoints”, 4 March 2014, https://economictimes.indiatimes.com; *#TimeToCare (India Supplement)*, Oxfam India, 16 January 2020, https://www.oxfamindia.org.

129 इस पर अधिक जानकारी के लिए हमारा प्रकाशन देखें: *Demonetisation: Yet Another Fraud on the People*, Lokayat publication, Pune, 2017, http://lokayat.org.in.

130 वही.

131 Prabhat Patnaik, “A Year of Wilful Economic Disaster”, 8 January 2018, http://www.networkideas.org; Arun Kumar, “A Broken Tax Chain”, 30 June 2018, https://www.thehindu.com.

132 Arun Kumar, “Falling Fortunes”, 30 January 2019, https://caravanmagazine.in.

133 “GST to be ‘Biggest Achievement’ of Modi Government: Assocham”, 21 May 2017, https://economictimes.indiatimes.com.

134 “Craftily Written Labour Codes Exclude Millions, Pay Little Heed to Equality”, 26 July 2019, https://thewire.in.

135 “Why the New Labour Codes Leave India’s Workers Even More Precariously Poised Than Before”, Working People’s Charter, 23 September 2020, https://scroll.in; “Enslaving Labour”, 4 October 2020, https://peoplesdemocracy.in.

136 Santosh Mehrotra et al., India’s Employment Crisis, 2019, पूर्व-उद्धृत.

137 B.R. Ambedkar, “Ranade, Gandhi, and Jinnah”, http://www.columbia.edu.

138 उदाहरण के लिए देखें: Sukhdeo Thorat, “Scheduled Castes Among Worst Sufferers of India’s Job Problem”, 7 September 2018, https://www.hindustantimes.com.

139 Vijaita Singh, “Crime Against Scheduled Castes, Scheduled Tribes Saw a Rise of 7% and 26% in 2019: NCRB”, October 01, 2020, https://www.thehindu.com.

140 “Unemployment Rate Inches Down to 5.8%; Minor Rise in Joblessness Among SCs, STs”, June 5, 2020, https://indianexpress.com; *State of Working India 2018*, Azim Premji University, https://cse.azimpremjiuniversity.edu.in.

141 *State of Working India 2018*, वही; “Female Labour Force Participation Rate and Earnings Gap in India”, https://iwwage.org.

142 Prabhat Patnaik, “The Mendacity of the ‘Rescue Package’”, 24 May 2020, https://www.networkideas.org; “Modi’s Rs 20 Lakh Crore Package Will Likely Have Fiscal Cost of Less Than Rs 2.5 Lakh Crore”, 17 May 2020, https://thewire.in.

143 Jayati Ghosh, “India’s Response to Covid-19 Has Been Sadistic”, 11 June 2020, https://www.networkideas.org; “Lockdown: More Activists, Academics Raise Pitch for Additional Relief, Cash Transfers, Rations”, 2 April 2020, https://thewire.in.

144 Mayank Aggarwal & Sahana Ghosh, “While Everyone was in Lockdown, India Cleared Infrastructure Projects in Protected Areas”, 15 June 2020, https://scroll.in; “Letter on Need to Recast Altogether the Environment Impact Assessment Policy 2020”, Constitutional Conduct Group, 12 July 2020, https://constitutionalconduct.com.

145 “CMIE: ‘Slump in Growth Starts Showing: About 21 Million Salaried Jobs Lost in Apr-Aug’”, 9 September 2020, https://indianexpress.com.

146 Arun Kumar, “What the 23.9% Drop in Q1 GDP Tells – and Doesn’t Tell – Us About the Economy”, 2 September 2020, https://thewire.in.

147 Priya Dharshini et al., “Demonetisation, GST and Lockdown: How the Modi Government has Wrecked India’s Small Businesses”, 28 November 2021, https://scroll.in.

148 Prabhat Patnaik, “What the Second Quarter GDP Estimates Reveal”, 7 December 2020, https://www.networkideas.org; Prabhat Patnaik, “Immiserisation Behind the Recovery”, 23 November 2020, https://www.networkideas.org.

149 “India’s Policy Response to COVID-19: A Reality Check Focusing on Dalits and Adivasis”, CBGA and NCDHR, https://www.cbgaindia.org.

150 “In India, 5 Out of 6 Multidimensionally Poor are from Lower Tribes or Castes: UN Report”, 7 October 2021, https://timesofindia.indiatimes.com.

151 *State of Working India 2021*, Azim Premji University, https://cse.azimpremjiuniversity.edu.in.

152 “India: GDP Share of Agriculture”, https://www.theglobaleconomy.com.

153 इस पर अधिक चर्चा के लिए हमारा लेख देखें: Neeraj Jain, “Budget 2017–18: Is it Indeed a Pro-Farmer Budget?” *Janata Weekly*, 12 February 2017, http://janataweekly.org; और हमारा प्रकाशन: *Spectre of Fascism*, Lokayat publication, Pune, 2016, pp. 54–59, http://lokayat.org.in.

154 “Farmers Indebtedness: Into the Abyss?” 30 January 2015, http://www.downtoearth.org.in.

155 P. Sainath, “The Slaughter of Suicide Data”, 5 August 2015, http://psainath.org.

156 Kirankumar Vissa, “For India’s Farmers, Budget 2018 Is Nothing But a Hoax”, February 2, 2018, https://thewire.in; “Amid Opposition Protests, Parliament Okays Two Agriculture Bills”, 20 September 2020, https://univarta.com.

157 Shoaib Daniyal, “Modi Insists Farm Bills Have Nothing to do with MSP – So Why are Farmers Protesting?” 23 September 2020, https://scroll.in.; Bharath Kancharla, “Part-2: How Much of the Rice & Wheat Produce in the Country Is Procured by the Government?”, 6 June 2020, https://factly.in.

158 “India Faces Rs 3 Lakh Cr Farm Loan Waivers – 16 Times 2017 Rural Roads Budget”, 17 June 2017, http://www.business-standard.com.

159 अध्याय 7, भाग 3 देखें.

160 सभी आंकड़े केंद्रीय बजट दस्तावेजों से लिए गए हैं. जीडीपी के आंकड़े यहां से: *Second Advance Estimates of National Income, 2019–20*, Press Release, Government of India, 28 February 2020, http://www.mospi.gov.in.

161 “Farmer Suicides Up 42% Between 2014 & 2015”, 6 January 2017, http://timesofindia.indiatimes.com; “Steady Decline in Farm Sector Suicides from 2016 to 2019, NCRB Data Shows”, 3 September 2020, https://indianexpress.com.

162 “Raising Agricultural Productivity and Making Farming Remunerative for Farmers”, NITI Aayog, 16 December 2015, http://niti.gov.in.

163 Neeraj Jain, “The Three Agriculture Related Bills: Handing Over Control of Agriculture to Foreign Corporations”, *Janata Weekly*, September 20, 2020, https://janataweekly.org.

164 1983 के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *Economic Survey, 2001–02: Social Sectors – Labour and Employment*, http://indiabudget.nic.in. शेष आंकड़े यहां से लिए गए हैं: Santosh Mehrotra et al., “Explaining Employment Trends in the Indian Economy”, 2014, पूर्व-उद्धृत; and: Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, पूर्व-उद्धृत.

165 तालिका 11 में डेटा के आधार पर हमारी गणना.

166 हमने अनुमान लगाया है कि हर साल नौकरी की तलाश में 90 लाख लोग बाजार में प्रवेश करते हैं – देखें संदर्भ 34.

167 ये आंकड़े यहां से लिए गए हैं: Santosh Mehrotra et al., “Explaining Employment Trends in the Indian Economy”, 2014, op. cit.; and: Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, op. cit.

168 सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम मंत्रालय की *वार्षिक रिपोर्ट 2018-19* (*Annual Report 2018–19*, Ministry of Micro, Small and Medium Enterprises, New Delhi, https://msme.gov.in.) में 2015-16 के आंकड़े दिए गए हैं और कहा गया है कि एमएसएमई ने 3.6 करोड़ मैन्युफैक्चरिंग नौकरियां प्रदान की हैं. सूक्ष्म उद्यमों का सभी एमएसएमई में 99% हिस्सा है, जिसका अर्थ यह हुआ कि कि इनमें से लगभग सारी नौकरियां सूक्ष्म उद्यमों द्वारा प्रदान की गई हैं. यह तालिका 12 में अनौपचारिक असंगठित क्षेत्र की नौकरियों के आंकड़ों से बहुत निकटता से मेल खाता है (और तालिका 12 के आंकड़े 2017-18 के पीएलएफएस आंकड़ों पर आधारित हैं).

169 Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, पूर्व-उद्धृत.

170 तालिका 13 में दिए गए आंकड़े वास्तव में संपूर्ण गैर-मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र के लिए हैं; हमारे पास निर्माण क्षेत्र के लिए अलग से आंकड़े नहीं हैं. लेकिन चूंकि निर्माण क्षेत्र का गैर-मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र की नौकरियों का 92 प्रतिशत हिस्सा है, इसलिए हम यह मान सकते हैं कि तालिका 13 में दिए गए प्रतिशत निर्माण क्षेत्र के लिए भी होंगे.

171 Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, पूर्व-उद्धृत.

172 वही.

173 R. Nagaraj, 2014, पूर्व-उद्धृत.

174 वही; T.S. Papola, Partha Pratim Sahu, 2012, पूर्व-उद्धृत.

175 Santosh Mehrotra et al., *India’s Employment Crisis*, 2019, पूर्व-उद्धृत.

176 इस पर अधिक जानकारी के लिए लेखों की यह श्रृंखला देखें: Neeraj Jain, “Modinomics = Corporatonomics”, Part III, IV और V, *Janata Weekly*, 28 April, 5 May और 12 May, 2019, “Janata – Lohia Today”, https://lohiatoday.com.

177 Peeyush Sharma, “Over 60 Lakh Central and State Govt Posts Lying Vacant”, 13 July 2021, https://theleaflet.in.)

178 सार्वजनिक क्षेत्र की रोजगार का सीएजीआर 1961-81 में 4.01% से गिरकर 1981-91 के दौरान 2.10% हो गया था. यदि बाद का सीएजीआर (2.1%) का उपयोग किया जाए, तो 2018 के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार 333.7 लाख आता है. सार्वजनिक क्षेत्र के रोजगार के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: R. Nagaraj, 2014, पूर्व-उद्धृत.

179 *International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights*, https://www.ohchr.org

180 *Friday, 19th November, 1948 – Parliament of India*, Constituent Assembly of India – Volume VII, http://parliamentofindia.nic.in.

181 Vivek Kaul, “Book Excerpt: The Real Story Behind India’s Low Unemployment”, 19 April 2017, https://www.firstpost.com.

182 *India’s External Debt as at the End of June 2019*, 30 September 2019, www.rbi.org.in.

183 हमारी गणना. इसको करने के लिए हमने जो पद्धति अपनाई है, वह हमारी इस किताब में दी हुई है : Neeraj Jain, *Essays on Contemporary Indian Economy*, Aakar Books, Delhi, 2016, pp. 155–57.

184 Lucas Chancel and Thomas Piketty, “Indian Income Inequality, 1922–2015: From British Raj to Billionaire Raj”, March 2018, https://wid.world.

185 *India: Extreme Inequality in Numbers,* https://www.oxfam.org

186 *Global Wealth Databook 2019*, पूर्व-उद्धृत, p. 168.

187 "Consumer Spending in India Falls for the First Time Since 1972-1973", 20 November 2019, https://www.grainmart.in.

188 Santosh Mehrotra and Jajati Keshari Parida, "'Pakoda' Employment Has Increased Poverty Over the Last Eight Years", 14 October 2021, https://thewire.in.

189 "Wealth of Indian Billionaires Rose by Over a Third During the COVID-19 Lockdown", 16 October 2020, https://thewire.in.

190 "Mukesh Ambani Earned Rs 90 Crore Every Hour Since Lockdown", 29 September 2020, https://economictimes.indiatimes.com.

191 "230 Million Indians Pushed into Poverty Amid Covid-19 Pandemic: Report", 6 May 2021, https://www.business-standard.com.

192 Prabhat Patnaik, "Resources for Welfare Expenditure", 19 February 2019, https://www.networkideas.org. प्रभात पटनायक ने 2019 के लिए लागत के अनुमान दिए हैं. हमने 8% मुद्रास्फीति मानकर 2020 के लिए इसकी गणना की है.

193 सभी आंकड़े 2017-18 के लिए हैं. बड़े कारखानों में कुल श्रमिकों की संख्या यहां से ली गई है*: Annual Survey of Industries, CMS, ASI Result: 2017–18*, Summary Results for Factory Sector, S7-3, http://www.csoisw.gov.in.

194 *Annual Survey of Industries*, वही, विभिन्न वर्षों के लिए रिपोर्ट.

195 Prabhat Singh, "Higher Productivity Equals Higher Wages? Not for the Indian Industrial Worker", 10 October 2017, http://www.livemint.com.

196 वही.

197 "India's Manufacturing Capacity Utilisation Weakened Further: RBI Survey", 4 October 2017, https://www.bloombergquint.com.

198 "Finland's New Prime Minister Backs Four-Day Working Week", 6 January 2020, https://www.independent.co.uk; "Microsoft Tested a Four-Day Week in Overworked Japan. This Is What Happened", 5 November 2019, https://www.nzherald.co.nz.

199 2006-07 और 2015-16 में रोजगार के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *NSSO 2015–16* and *Fourth All India MSME Census of 2006–07*. देखें: *Annual Report 2018–19*, Ministry of Micro, Small and Medium Enterprises, पूर्व-उद्धृत.

200 गणना हमारे द्वारा की गई. विकसित देशों के लिए, सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार डेटा यहां से लिया गया है: "Employment in General Government", *OECD Government at a Glance*, 2019, https://www.oecd-ilibrary.org; कुल रोजगार के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *OECD Labour Force Statistics 2019*, https://read.oecd-ilibrary.org; जनसंख्या के आंकड़े यहां से लिए गए हैं: *Population data – OECD Statistics*, https://stats.oecd.org. सभी आंकड़े 2017 के लिए हैं. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के रोजगार के आंकड़े इस निबंध में अध्याय 4, खंड (5v) से लिए गए हैं. 2017 के लिए भारत की जनसंख्या का आंकड़ा यहां से लिया गया है: *Population, Total – India*, https://data.worldbank.org.

201 2017 में कुल जनसंख्या लगभग 133.9 करोड़ थी. 133.9 x 7.17/100 = 9.6.

202 अध्याय 4, खंड (5v) देखें.

203 आंकड़ा EU-27 के लिए है, और 2017 के लिए है. इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा पर सामान्य सरकारी खर्च शामिल है. सामाजिक सुरक्षा में बीमारी और विकलांगता, बेरोजगारी, बुढ़ापा, आवास, आदि शामिल हैं. इस आंकड़े के भीतर, EU-27 का स्वास्थ्य और शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय जीडीपी का 11.6% था; भारत का स्वास्थ्य और शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय (केंद्र और राज्य दोनों मिलाकर) जीडीपी का 4.2% था. [EU के लिए स्त्रोत: *Government Expenditure on Social Protection*, https://ec.europa.eu; भारत के लिए स्त्रोत: *Economic*

Survey, 2019–20.]

204 "India's Missing Millions of Out of School Children: A Case of Reality Not Living Up to Estimation?" 2 November 2015, https://www.oxfamindia.org.

205 Dr Sridhar G, "Is India Spending Enough On Education?" 4 July 2020, https://www.linkedin.com; *Economic Survey,* 2019–20, Vol. II, p. 275.

206 आंकड़े सिर्फ-प्राथमिक विद्यालयों के लिए हैं, जो सभी प्रारंभिक विद्यालयों का 58% हैं; इसकी गणना करने के लिए हमने 2015 के आंकड़े यहां से लिए हैं: *Elementary Education in Urban India, Analytical Report*, 2015–16 और *Elementary Education in Rural India, Analytical Report*, 2015–16, NUEPA, New Delhi.

207 वही.

208 यहां दिए गए आंकड़े देखें: *School Education in India, 2015–16, Flash Statistics*, U-DISE 2015–16, NUEPA, New Delhi, 2016, http://www.dise.in.

209 *UIS Statistics, Sustainable Development Goals: Education,* http://data.uis.unesco.org.

210 Tish Sanghera, "Fewer Children Out of School, But Basic Skills Stay Out of Reach: New Study", 16 January 2019, https://www.bloombergquint.com.

211 हमारे द्वारा की गई गणना, इसमें दिए गए आंकड़ों के आधार पर: *School Education in India, 2015–16, Flash Statistics*, पूर्व-उद्धृत. हमने प्राथमिक स्तर के लिए वार्षिक शाला-त्याग का डेटा लिया है, और इसका उपयोग कर प्राथमिक शिक्षा के लिए कुल शाला-त्याग दर की गणना की है. फिर, हमने उच्च प्राथमिक स्तर के लिए संक्रमण दर का डेटा और वार्षिक शाला-त्याग डेटा का उपयोग कर प्रारंभिक स्तर के लिए समग्र शाला-त्याग दर की गणना की है.

212 गणना निम्नानुसार की गई है. सिर्फ-प्राथमिक स्कूलों में अभी शिक्षकों की संख्या है 42.03 लाख. प्राथमिक स्तर के लिए वार्षिक शाला-त्याग दर = 4.13%. यदि ये सभी बच्चे स्कूल में वापस आ जाते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हर कक्षा में (यानी कक्षा 2 से 5 में) बच्चों की संख्या 4.13% सीएजीआर की दर से बढ़ जाएगी, और इसलिए हर कक्षा में (यानी कक्षा 2 से 5 में) शिक्षकों की संख्या भी 4.13% सीएजीआर की दर से बढ़ानी होगी = 49.4 लाख.

213 *School Education in India, 2015–16, Flash Statistics*, पूर्व-उद्धृत.

214 गणना निम्नानुसार की गई है. सिर्फ-प्रारंभिक स्कूलों में अभी शिक्षकों की संख्या है 25.46 लाख. कक्षा 8 तक 30% बच्चे पढाई छोड़ देते हैं. सिर्फ-प्रारंभिक विद्यालयों के लिए, यह 4.97% (सीएजीआर) वार्षिक शाला-त्याग दर के बराबर है. यदि ये सभी बच्चे स्कूल में वापस आ जाते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हर कक्षा में (यानी कक्षा 2 से 8 में) बच्चों की संख्या 4.97% सीएजीआर की दर से बढ़ जाएगी, और इसलिए हर कक्षा में (यानी कक्षा 2 से 8 में) शिक्षकों की संख्या भी 4.97% सीएजीआर की दर से बढ़ानी होगी = 35.75 लाख.

215 गणना निम्नानुसार की गई है: 106.44/46.44 x 40.48 = 92.78; 92.78 – 40.48 = 52.30; 52.30/2 + 40.48 = 66.63

216 *General Government Revenue (% of GDP) Data for All Countries*, Data Source – IMF, Year 2015, http://economywatch.com; ओईसीडी देशों का डेटा भी यहां उपलब्ध है: *General Government Revenue,* https://data.oecd.org.

217 Martin Hart-Landsberg, "A Wealth Tax: Because that's Where the Money Is", 19 November 2019, https://mronline.org.

218 *Global Wealth Databook 2019*, पूर्व-उद्धृत.

219 Martin Hart-Landsberg, पूर्व-उद्धृत.

220 "Use Inheritance Tax to Tackle Inequality of Wealth, Says OECD", 12 April 2018, https://www.theguardian.com; "Inheritance Tax: A Hated Tax but a Fair One", 23 November 2017, https://www.economist.com; Michael Förster et al., "Trends in Top Incomes and Their Taxation in OECD Countries", May 2014, https://www.researchgate.net.

221 हमने इस पर अधिक विस्तार से हमारी इस पुस्तिका में चर्चा की है: *Is the Government Really Poor*, पूर्व-उद्धृत.

222 नीचे दिए गए सभी तथ्य स्वतंत्र यूएस-स्थित गैर-लाभकारी वेबसाइट http://venezuelanalysis.com पर उपलब्ध विभिन्न लेखों से लिए गए हैं.

हमारे बारे में: लोकायत

इसी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कुछ वर्ष पहले हमने यह मंच शुरू किया था — लोकायत। लोकायत ने देश में व्याप्त आर्थिक संकट के मूल कारणों — सरकार द्वारा विश्व बैंक–आईएमएफ के निर्देश पर नवउदारवादी आर्थिक नीतियों का क्रियांवयन — के प्रति लोगों को जागरूक करने और उन्हें एकजुट होने और विरोध में आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित करने के लिए अनेक कार्यक्रम आयोजित किये हैं।

पिछले कुछ समय से वैश्वीकरण के कारण पैदा हुए संकट के अलावा भारतीय समाज एक और गंभीर संकट का सामना कर रहा है — फासीवाद का, जो कि वैश्वीकरण का जुड़वां भाई है। देश में फासीवादी ताकतों के तेज़ी से हो रहे विकास के चलते एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक व समाजवादी गणतंत्र के रूप में देश की संकल्पना ही खतरे में पड़ रही है। हमारे देश के संस्थापकों ने देश को इसी रूप में देखा था और यही संविधान में कहा गया है। पूंजीवादी वैश्वीकरण और फासीवाद के जुड़वां खतरे से निपटने के लिए, लोकायत देश भर के हमख्याल समूहों के साथ संयुक्त मंचों का निर्माण करने की कोशिश कर रहा है ताकि लोगों के बीच भारतीय संविधान के मूल्यों की जागरूकता बढ़ाई जा सके और उन्हें फासीवादी ताकतों से लड़ने के लिए एकजुट किया जा सके।

लोकायत ने नवउदारवादी फासीवादी खतरे के विरुद्ध जन जागरूकता बढ़ाने के लिए अनेक कार्यक्रम आयोजित किये हैं, जैसे सेमीनार, वार्ताएं, फिल्म प्रदर्शन, गीत सभाएं, सड़क पर अभियान, नुक्कड़ नाटक, पोस्टर प्रदर्शनियां, लोगों के संघर्षों के साथ एकजुटता में भूख हड़तालें, और रैलियां-धरने। इनमें प्रमुख ध्यान निम्नलिखित मुद्दों पर होता है:

i. लोगों को संविधान के अनुच्छेद 51-क में वर्णित संवैधानिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक करना, जो नागरिकों से अपेक्षा करता है कि

- वे उन उत्कृष्ट आदर्शों को अपनाएं जिन्होंने हमारी आज़ादी की लड़ाई को प्रेरणा दी — इनमें स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के मूल्य शामिल हैं;
- सारे लोगों के बीच, धार्मिक, भाषाई और क्षेत्रीय या अन्य विभाजनों से ऊपर उठकर, भाईचारे को बढ़ावा देना;

हम मानते हैं कि इन आदर्शों और मूल्यों का समर्थन करना ही सच्चा राष्ट्रवाद है।

ii. लोगों को इस बात के प्रति जागरूक करना कि संविधान में समस्त भावी सरकारों के लिए दिशानिर्देश हैं कि उन्हें किस तरह की नीतियों का पालन करना है। इन्हें संविधान के खंड IV में शामिल किया गया है और इन्हें दिशानिर्देशक सिद्धांत भी कहते हैं। डॉ. आंबेडकर ने संविधान सभा में इन सिद्धांतों को संविधान में शामिल करने के कारणों की चर्चा करते हुए ज़ोरदार ढंग से घोषणा की थी कि "हमारी मंशा है कि ... कठिन व

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी (भावी सरकारें) सदैव इन निर्देशों को पूरा करने का प्रयास करेंगी।" दिशानिर्देशक सिद्धांत राज्य को निर्देश देते हैं कि

- एक समतामूलक समाज का निर्माण करे; यह सुनिश्चित करे कि संपत्ति का संकेंद्रण न हो; सुनिश्चित करे कि सारे नागरिकों को जीविका के यथेष्ट साधन का अधिकार हो जो उन्हें एक अच्छे स्तर का जीवन जीने की गारंटी दे; सारे नागरिकों को, बगैर किसी भेदभाव के, समुचित स्वास्थ्य सेवा तथा पोषण उपलब्ध हो; और सारे बच्चों को समतामूलक व अच्छी शिक्षा मिले।

प्रिय दोस्तों, यदि आप हमारे बारे में और जानना चाहें, या हमारी गतिविधियों में भाग लेना चाहें, तो आप हमसे अवश्य संपर्क करें।

लोकायत

संपर्क पता: लोकायत, 129 बी/2, कॅनेरा बैंक के सामने, लॉ कॉलेज रोड,

नल स्टॉप के पास, एरंडवणे, पुणे – 4

(इस पते पर हर रविवार शाम 5 से 7:30 के बीच मीटिंग होती है)

अलका जोशी – 90670 03838 ऋषिकेश येवलेकर – 94235 07864

www.lokayat.org.in Lokayat.India

abhivyakti.pune lokayatpune

KafilaOfficial @lokayat

lokayat.india@gmail.com

जनता साप्ताहिक, मुंबई

मुख्य संपादक: जी. जी. परीख, नीरज जैन

www.janataweekly.org janataweekly@gmail.com

JanataWeekly

जनता साप्ताहिक सदस्यता लें: janataweekly.org/subscribe

(जनता साप्ताहिक मुफ्त ऑनलाइन उपलब्ध है)

हमारे अन्य प्रकाशन

नोटबंदी: क्या खोया? क्या पाया?	₹	5/-
तर्कशील, वैज्ञानिक, समाजवादी विवेकानन्द	₹	10/-
मोदी सरकार के चार साल और बजट 2018–19	₹	15/-
देश पर फ़ासीवाद का संकट	₹	20/-
वैश्वीकरण या पुनःऔपनिवेशीकरण?	₹	150/-
Public Sector Insurance for Sale	₹	5/-
Palestine, Israel and the Arab–Israeli Conflict: A Primer	₹	10/-
Religion of Temples and Temples of Religion	₹	10/-
Let's Rise from the Shadows!	₹	15/-
Yeh Dil Mange Maut (Coke–Pepsi Quit India)	₹	15/-
Who was Shivaji? *(Writer: Com. Govind Pansare)*	₹	20/-
Spectre of Fascism	₹	20/-
Unite to Fight Nuclear Madness!	₹	20/-
The Unemployment Crisis: Reasons and Solutions	₹	25/-
Is the Government Really Poor?	₹	25/-
Neoliberal Fascist Attack on Education	₹	25/-
We The People	₹	30/-
Globalisation or Recolonisation?	₹	150/-
Education Under Globalisation	₹	200/-
Essays on Contemporary Indian Economy	₹	200/-
Nuclear Energy: Technology From Hell	₹	225/-
विवेकवादी, विज्ञानवादी, समाजवादी विवेकानंद	₹	5/-
शहीद भगतसिंगचे तरुणांना आवाहन	₹	15/-
इरादे कर बुलंद	₹	15/-
देशावर फॅसिझमचे संकट	₹	20/-
सरकार खरचं गरीब आहे का?	₹	20/-
तुम्ही बेरोजगार का? कारणे आणि पर्याय	₹	25/-

बेरोज़गारी का महासंकट

कोरोना महामारी के दौरान, न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था को एक अभूतपूर्व पतन का सामना करना पड़ा, इसने एक भयानक बेरोज़गारी संकट को भी जन्म दिया है।

यह बेरोज़गारी संकट महामारी के कारण नहीं है। महामारी ने इसे केवल और विकट बना दिया है। महामारी से पहले ही अर्थव्यवस्था गंभीर बेरोज़गारी की चपेट में थी। यह संकट यूपीए के वर्षों (2004-14) के दौरान भी था। मोदी इस संकट से निपटने और साल में 2 करोड़ नौकरियां पैदा करने का वादा करके 2014 में सत्ता में आए थे। वे न केवल अपना वादा निभाने में असफल रहे हैं, मोदी के शासन काल में बेरोज़गारी का संकट और भी गहरा हो गया है। बल्कि मोदी वर्षों के दौरान, अर्थव्यवस्था में नौकरियों की कुल संख्या में गिरावट आई है। ऐसा आजादी के बाद पहली बार हुआ है।

इतना ही नहीं, अर्थव्यवस्था में उपलब्ध नौकरियों में से अधिकांश अनौपचारिक क्षेत्र की, असुरक्षित, कम वेतन वाली नौकरियां हैं, जिनमें काम कर रहे लोग निर्वाह-स्तर का वेतन भी नहीं कमा पा रहे हैं। कोई भी मानवीय समाज इन सभी लोगों को अर्ध-बेरोज़गार मानेगा और इनकी गिनती बेरोज़गारों में करेगा। इन्हें शामिल कर लिया जाए, तो देश में बेरोज़गारी की दर स्तब्ध करने वाली है।

देश में इतनी अधिक बेरोज़गारी क्यों है?

- क्या इसलिए कि हमारी आबादी बहुत ज्यादा है?
- क्या इसलिए क्योंकि लोग काम नहीं चाहते?
- क्या इसलिए क्योंकि लोगों के पास आवश्यक कौशल नहीं है?
- क्या यह आरक्षण के चलते है?
- या यह इसलिए है क्योंकि दूसरे राज्यों के लोगों और बांग्लादेश के प्रवासियों ने हमारी नौकरियां चुरा ली हैं?

अन्य देशों में बेरोज़गारी की स्थिति क्या है? अपनी अपार समृद्धि के बावजूद क्या विकसित देश भी बेरोज़गारी से ग्रस्त हैं?

क्या बेरोज़गारी संकट का कोई वास्तविक समाधान है? अर्थव्यवस्था में रोजगार सृजित करने के लिए क्या किया जा सकता है? इसके लिए हमें किस तरह की मांगें उठानी होंगी? क्या वाकई में ऐसे समाज का निर्माण संभव है जहां सभी के लिए अच्छी नौकरियां हों?

यह पुस्तिका देश में व्याप्त बेरोज़गारी संकट से जुड़े इन सभी और ऐसे ही कई अन्य सवालों के जवाब देने की कोशिश करती है।

LOKAYAT

JANATA WEEKLY
MUMBAI